संगम और संघर्ष

●

रांगेय राघव

किताब महल इलाहाबाद

अनुक्रमणिका

साहित्य में ऐतिहासिक यथार्थवाद

साहित्य का सत्य कल्पना को पूर्णतया नहीं छोड़ देता, वह यथार्थ के आधार पर जितना ही दृढ़ होता है उतना ही वह गहराई तक पहुँचता है। कल्पना दो प्रकार की होती है। एक वह कल्पना कि दूर कमरे में छिपकर बैठ रहे और कथा का सृजन करने में माथा-पच्ची करते रहे। ऐसी उड़ानें भरते रहे जिनका समाज के जीवन पर न सीधा और न परोक्ष ही प्रभाव पड़ता हो। प्रसाद का 'कंकाल' ऐसी वस्तु नहीं, वरन् 'तितली' है। 'कंकाल' में जीवन की कठोरताएँ हैं और मध्यवर्ग के जो पात्र लिए गए हैं, वे अपने समाज की विषमता से ग्रस्त हैं। उसी लेखक का दूसरा उपन्यास है 'तितली'। इसमें ग्राम्य जीवन का एक काल्पनिक चित्रण प्रस्तुत किया गया है। वैसी अनुभूति ग्राम्य जीवन न देता है, न पात्र ही वैसा यथार्थ प्रकट करते हैं जैसा 'तितली' में है। 'तितली' में लेखक ने इस ढंग से कथावस्तु का वर्णन किया है कि अकाल की विभीषिका भी रूमानी माहौल में डूब गई है। यह है कल्पना का वह प्रयोग जिसका आधार समाज का दुःख नहीं, वह एक मानसिक उड़ान है। कल्पना का दूसरा रूप है यथार्थ को सुन्दर ढंग से प्रस्तुत करने के लिए कुछ ताने-बाने के रूप में शृङ्खलाएँ जोड़ना; जो प्रेमचन्द में बहुधा मिलता है। कथा जीवन से ली गई है और धरती पर ही सारा खेल हो रहा है। परन्तु जहाँ शृङ्खला टूटती है वहाँ एक काल्पनिक पात्र रखा गया है, परन्तु वह काल्पनिक पात्र एक और सामाजिक सत्य है। वह 'टाइप' भी होता है और इसीलिए उसे रखा गया है। प्रेमचन्द में कल्पना का एक तीसरा रूप भी उपस्थित है—उनकी

समाज को उठाने वाली आदर्शवादिता। उसके लिए वे कुछ ऐसे काम करते हैं जैसे कोई आश्रम बनवा दिया। परन्तु यह कल्पना एक आदर्श को लेकर चली है। स्पष्ट ही प्रकट है कि लेखक की इच्छा है कि ऐसा हो। वैसा यदि किया जाय तो हो अवश्य सकता है।

इसके बाद कुछ महत्त्वपूर्ण बातें आती हैं। एक है अतियौनवाद, नग्न-चित्रण जो भी यथार्थ के नाम पर प्रस्तुत किया जाता है। दूसरी ओर है साम्यवादी यथार्थवाद। आज तो बहुतेरे प्रतीकवाद को भी यथार्थ कहने लगे हैं। प्रश्न है—यथार्थ क्या है? समाज में उसका रूप क्या है? साहित्य में उसका स्थान क्या है? और साहित्य में ऐतिहासिक यथार्थवाद क्या है?

यौनवाद के समर्थक दुहाई देते हैं कि क्या हमारे समाज में यौन-समस्याएँ नहीं हैं? उनके लिए उत्तर है—हैं। परन्तु नग्न-चित्रण यदि रस लेकर भावनाओं को विकृत करने के लिए है तो वह हमें शरीर की उन परिधियों में घेर लेता है जो समाज की सामाजिकता के स्थान पर व्यक्तिगत उलझनों में डालता है, यह व्यक्तिगत उलझनें पथ को प्रशस्त नहीं करतीं, भाग्यवाद को स्थान देती हैं। हम समाज में दिगम्बर नहीं रहते। समाज ने हमारे लिए, अथवा कहें, हमने समाज में रहने के लिए; कुछ नियम बनाये हैं। उन्हें हमको देखना है, उनकी जाँच करनी है। यौन-समस्याएँ भी उन्हीं विषयों के अन्तर्गत हैं। समाज केवल यौन-समस्याओं का ही भण्डार नहीं है। यौन-समस्याओं का उतना ही रूप श्रेयस्कर है जो अपने सापेक्ष रूप में उचित है और स्वस्थ है।

साम्यवादी यथार्थवाद के बारे में भ्रम है कि केवल मजदूर-किसान के विषय में लिखा साहित्य ही साम्यवादी यथार्थवाद है। यही बात हमें ऐतिहासिक यथार्थवाद के अन्तर्गत देखनी है। प्रतीकवाद वही ठीक है जो भले ही प्रतीकों में सही, पर समाज की प्रगति को रोकता नहीं, अनजाने

या जाने ढंग से उन शक्तियों को नहीं बढ़ाता जो हमारे सामाजिक जीवन को अवरुद्ध करती हैं।

यथार्थ है जीवन का वह वास्तविक चित्रण जो समाज का पूरा चित्र उतार देता है। समाज में उसका रूप है उन शक्तियों को बल पहुँचाना जो समाज की विकृतियों को दूर करने के यत्न में लगी हैं। समाज की मूल विकृति है संपत्ति के उत्पादन और वितरण में असमता, शोषण। धन के माध्यम से जो आज सारे सम्बन्ध नियन्त्रित हैं यह मनुष्य के समाज की सबसे बड़ी विकृति है। धन न तो आज व्यक्तिगत स्वतन्त्रता देता है, न सामाजिक। बहुत से लोग सामाजिक जीवन को व्यक्ति के अधिकारों पर कुण्ठा डालना समझते हैं। यह वास्तव में बर्बर-युग का चिन्तन अवशिष्ट है। तब हम इस समाज तक विकास न कर सके थे, पूर्वज एक ऐसे समाज में थे जहाँ 'वैराज्य' था अर्थात् विगतः राट् यस्याः; बिना राजा के राज्य में रहते थे। राजा का तात्पर्य यहाँ राजा से नहीं राज से था। 'राज' शब्द राजस्थान के ग्रामीणों में State के लिए अभी तक प्रयुक्त होता है। उस समय मनुष्य ने डर से ही गृहपति चुना था, क्योंकि उसे नष्ट हो जाने का भय हो आया था। स्वभावतः ही जब सामाजिक जीवन प्रारम्भ होता है, तब व्यक्ति को अपनी स्वतन्त्रता का वह अंश छोड़ना पड़ता है, जो दूसरे व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर हावी होता है। जैसे-जैसे समाज का विकास होता गया, व्यक्ति की वह स्वतन्त्रता घटने के क्रम में रही जो दूसरों की सत्ता को बराबर की स्वतन्त्रता देने के विरोध में थी। उदाहरण के लिए प्राचीन काल में दास को यथाकाम वध किया जा सकता था, अब नहीं किया जा सकता। पहले जमींदार किसान का घर इशारे पर खुलकर जलवा सकता था, अब नहीं जलवा सकता। अब यदि यह लोग व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के लिए हाय-हाय करें तो क्या वह मान्य होगा? नहीं। भारत में समायण शुङ्गकालीन रचना है। चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में कौटिल्य के अर्थशास्त्र में दासों, कमकरों को अनेक स्वतन्त्रताएँ दी गई हैं। व्यक्ति के

वे अधिकार रोक दिए गए हैं जो दूसरे को रोकते हैं। परन्तु भारतीय संस्कृति सजग रही है। उस दास-युग को भारतीयों ने भाग्य-युग के रूप में लिया है। सामंतवाद का उदय जिसमें दास, शूद्र बनकर किसान के अधिकार पा सका, वाल्मीकि ने वहीं से व्यक्ति की महत्ता का प्रतिपादन किया है। व्यक्ति की यह महत्ता अपनी मान्यताओं में बहुत दिन सामंतीय सामाजिक ढाँचे के साथ चली। उत्पादन के साधन बदलने पर मध्यवर्ग बढ़ा। उसने शक्ति हथिया लिया। तब सामंतों की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता चली गई। अब इस मध्यवर्गीय समाज के पोषक अर्थात् पूँजीवादी विचार-धारा के लोगों को मालूम हो गया है कि अगली सामाजिक व्यवस्था इस समाज की विकृतियो को भी मिटाना चाहती है। उसमें मजदूर, किसान और बुद्धि-श्रमिकों का राज्य होगा, क्योकि वे ही मनुष्य का कल्याण करते हैं, समाज को समृद्ध करते हैं तो शोषण के अधिकारों का खोना इन पूँजीवादी चिन्तकों को व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के खोने के समान प्रतीत होता है। बहुत से लेखक दरिद्र होकर भी इसी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के हामी हैं। वे उसी बर्बर-युग के चिन्तन में तल्लीन हैं। उनकी बुद्धि का सामाजिक विकास नहीं हुआ है। होमर का काव्य बर्बर-युग की रचना है। सुन्दर है। परन्तु आज हम उस युग से बहुत आगे बढ़ गए हैं। आज भी वह हमें आनंद देता है, क्योंकि उसमें बर्बरयुगीन मानव की उन चेष्टाओं का भान होता है जो मनुष्य के विकास के लिए प्रयत्नशील थीं। महाभारत भी बर्बर-युग की रचना है। बर्बर-युग का अर्थ स्पष्ट कर देना यहाँ आवश्यक होगा। बर्बर-युग उस सामाजिक व्यवस्था के युग को कहते हैं जिसमें दास-प्रथा थी। समस्त महाभारत के गम्भीर चिन्तन ने दो ही निष्कर्ष निकाले हैं।

एक—धर्म की गति विचित्र है। धर्म बदलता है। धर्म समाज के व्यावहारिक जीवन को कहते हैं, रूढ़ियों पर चलने को नहीं।

दो—मनुष्य-समाज का कल्याण युद्ध से नहीं, शान्ति से है। मनुष्य की विजय न रूप से है, न ज्ञान से, न शौर्य से, वह उसके सत्य से है।

सत्य क्या है ? महाभारत उसे मन की कल्पना नहीं, धर्म-संस्थापना मानता है। इस धर्म-संस्थापना के लिए वह देखता है व्यक्ति का समाज में आचार-व्यवहार।

द्रौपदी को जिस समय दुःशासन भरी सभा में नंगी कर रहा था द्रौपदी ने पूछा था कि जुए में हारे हुए व्यक्ति को मुझे दाँव पर लगाने का क्या अधिकार था ? सब लोग सोच में पड़ गए। उसे उत्तर दिया गया कि युधिष्ठिर दास हो गया है अपने को जुए में हराकर, और क्योंकि पति को अपनी पत्नी पर सब अवस्थाओं में पूर्ण अधिकार है अतः वह द्रौपदी को दाँव पर लगा सकता है। तब द्रौपदी कहती है कि यदि पति को पत्नी पर पूर्ण अधिकार है और वह जुए में हारकर भी, अपने-आपके दास बन जाने पर भी, पत्नी को दाँव पर लगा सकता है, तो स्त्री को दाँव पर हार जाने के बाद भी पत्नी पर पति का ही अधिकार होना चाहिए। तर्क ठीक है। परन्तु समाज की व्यवस्था उस समय यह है कि दासी का अपने ऊपर कोई अधिकार नहीं, उसे भरी सभा में नंगी किया जा सकता है, उसे कोई भी भोग सकता है, अतः पति का पत्नी पर अधिकार कैसे चल सकता है ?

महाभारत स्वयं इस गुत्थी को नहीं सुलझा पाता, अतः कहता है धर्म की गति विचित्र है। पर स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध सनातन नहीं हैं। पहले बहुपति-प्रथा थी। पुत्र वीर्य-दान से होते थे, अतः धर्म बदलता है। इसी से निष्कर्ष निकलता है कि धर्म समाज के व्यावहारिक जीवन को कहते हैं, रूढ़ियों पर चलने को नहीं।

महाभारत की सामाजिक व्यवस्था सामंतकालीन नहीं थी, वर्धन-युगीन थी। राजा युद्ध करते हैं। परन्तु युद्ध से कल्याण नहीं होता, शांति से होता है। महाभारत का नायक कृष्ण नहीं, युधिष्ठिर है। वही सत्य का प्रतीक बनकर स्वर्ग जाता है। परवर्तीकाल में क्षेपक जोड़-जोड़कर महाभारत में चमत्कार भर दिये गए हैं। यह एक परवर्ती युग का प्रयत्न था जो

पुराने के बल पर अपनी उन्हीं रूढ़ियों को जीवित रखना चाहता था। उसी महाभारत को, जिसने सामाजिक सम्बन्धों को अविकृत रूप में प्रस्तुत किया था, कालांतर में रूढ़िवाद का भंडार बना दिया गया।

साहित्य का ऐतिहासिक यथार्थवाद है प्रत्येक युग में वास्तविकता को ढूँढ़ना। समाज के सम्बन्धों को ठीक तरह से देखना। निष्पक्ष रहना। निष्पक्षता का तात्पर्य है कि समाज जिस युग में जितना बढ़ा, जितनी उस पर रोकें थीं, दोनों को बराबर देखना। इतिहास में हमें निश्चय ही यह याद रखना चाहिए कि पुराने लोग मार्क्सवादी चिन्तन को नहीं जानते थे। इसलिए नवीन चिन्तन को इतिहास में ढूँढ़ने से अनर्गलता के अतिरिक्त कुछ भी प्राप्त हो जाय यह असम्भव है। उदाहरणतः श्री एस० ए० डाँगे ने अपनी पुस्तक 'इंडिया फ्रॉम प्रिमिटिव कम्युनिज्म टु स्लेवरी' में कुछ ऐसे ही तथ्य दिये हैं। उनका कहना है कि प्राचीन काल के ब्राह्मण मार्क्सवादी विकास-क्रम को जानते थे। पहले कृतयुग में मनुष्य चलता था। त्रेता में वह खड़ा रहा, द्वापर में बैठ गया। कलियुग में सो गया 'कलिः शयानो श्येते' करके जो उदाहरण दिया है वह वास्तव में यह नहीं है कि ब्राह्मण जानते थे कि पहले समाज में Savage अवस्था थी फिर बर्बर-युग आया, फिर सभ्यता आई और फिर उसकी विषमता ने पदार्पण किया। कवि ने रूपक बाँधा है। उसका कहने का तात्पर्य है कि पहले वह गतिशील था, फिर रुका, फिर थककर बैठा और फिर सो गया। यह ग्रंथ ब्राह्मणों ने लिखे हैं और ब्राह्मण ने अपने वर्ग के अधिकारों को लेकर लिखा है। कृत में ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ था, उसी का राज्य था। त्रेता में ब्राह्मण रुक गया, क्योंकि उसके कई अधिकार क्षत्रिय ने छीन लिए। द्वापर में ब्राह्मण को भी जीविका के लिए द्रोण की भाँति नौकरी करनी पड़ी। फिर भी उसके कुछ अधिकार थे। युधिष्ठिर ने जूआ खेलते समय सब-कुछ दाँव पर लगा दिया था। पर ब्राह्मणों की सम्पत्ति को नहीं लगा पाए थे, क्योंकि ब्राह्मण की सम्पत्ति पर हाथ लगाने

का अधिकार क्षत्रिय को अब भी प्राप्त नहीं था। कलि में ब्राह्मण के अधिकार और गिर गए। दूसरी ओर से देखना चाहिए। कृतयुग में आर्य दास का भेद था। त्रेता में ब्राह्मण के साथ क्षत्रिय भी शासक हुआ, और दास पारिवारिक दास (Domestic slaves) अधिक हुए, शेष जन-समूह शूद्र कहकर विराट पुरुष के चरण-रूप में समाज का अंग स्वीकार कर लिया गया। द्वापर में वैश्य-उत्थान प्रारम्भ हुआ जो अपने को महत्त्व-पूर्ण बनाने लगे, शूद्र अधिक अधिकार माँगने लगा, दास भी अपने लिए सम्पत्ति के अधिकार चाहने लगा। कलि में दास के स्थान पर पारिवारिक दास रहे (अधिकार की बात) और शूद्र (serf) बन गया। तीसरी तरह से देखना चाहिए। कृतयुग में आर्य और अनार्य-भेद था। त्रेता में आर्य-अनार्य-भेद राम-रावण-युद्ध के बाद कम हुआ। राक्षस-विवाह-पद्धति तक आर्यों ने स्वीकार कर ली। व्यापार में सम्पत्तिशाली आर्य और अनार्य सम्पत्तिहीन आर्य और अनार्यों के विरुद्ध दास-प्रथा कायम रखने को एक बन गए। कलि में आर्यों की वर्ण-व्यवस्था सामन्तीय व्यवस्था के रूप में पल्लवित हुई। पहले आर्य-अनार्य का भेद था। अब अनार्यों की सभ्य जातियों के पुरोहित वर्ग ब्राह्मणों में, योद्धा वर्ग क्षत्रियों में, वैश्य वर्ग वैश्यों में, शूद्र वर्ग शूद्रों में अंतर्भुक्त हो गए। चारों वर्णों में इसीलिए अनेक-अनेक उपजातियाँ हो गईं।

तो ऐतिहासिक यथार्थ इतिहास के गहरे अध्ययन से ही प्राप्त हो सकता है। श्री डांगे की तरह शीघ्र निष्कर्ष निकालने की प्रवृत्ति अवैज्ञानिक है। वे कहते हैं कि खाण्डव-दहन करके जंगल साफ किये गए और आर्यों ने खेती के लिए भूमि तैयार की। वास्तव में पृथु और मिथि जनक ने यह काम किया था। खाण्डव-दहन तो नागों की बस्तियाँ उजाड़ने के लिए किया गया था। इत्यलम्।

इतिहास क्या है? इतिहास मनुष्य-समूह की पीढ़ी-दर-पीढ़ी क्रम-विकास से चली आती कहानी है। यह कहानी मनुष्य के ज्ञान की दौड़

है और उसे इसीलिए पढ़ना चाहिए कि उस पुराने अनुभव के समूह से हमें क्या शिक्षा मिलती है, मनुष्य क्या है ? हमारा भविष्य क्या है ? हम अपने को कैसे अच्छा बना सकते हैं ? हमें क्या गलतियाँ नहीं करनी हैं ? उन गलतियों की जानकारी हमें पूर्वजों के अनुभवों से हो सकती है। उदाहरण के लिए हमारे पूर्वज पहले अग्नि, यम, इन्द्र, अश्विनीकुमार, मरुद्गण, अदिति, सोम, वरुण की ही पूजा करते थे। उनके पूर्वज पितर अग्निष्वातात्रों की पूजा करते थे। कालांतर में इन्द्र के उपासकों के वंशजों ने ब्रह्म को सर्वश्रेष्ठ माना। ब्रह्म को इतना निर्विकार बनाया गया कि जैनों ने ब्रह्म की सत्ता को अस्वीकार कर दिया। बौद्धों ने आत्मा की सत्ता भी अस्वीकार कर दी। परवर्ती काल में राम, कृष्ण की उपासना हुई, अनार्य शैवोपासना हुई, और बौद्ध और जैन सम्प्रदायों में भी देवताओं और तीर्थंकरों की सृष्टि पूजा के लिए हुई। वह युग भी गया। फिर सारे सम्प्रदाय यक्ष प्रभाव में डूब गए। वाममार्ग बना। इस युग में तान्त्रिकों ने घोषणा कर दी कि।

सर्व धर्मान् परित्यज्य योनि-पूजा रतो भवेत्।

नाथ सम्प्रदाय ने प्रतिक्रिया में स्त्रीहीन जीवन का उपदेश दिया है।

कबीर में दक्षिण का ज्ञानवाद, भक्तिवाद, नाथ-सम्प्रदाय का शून्यवाद सब मिलाकर और उसने रूढ़िवाद की निन्दा की। तुलसीदास ने पुराणवाद को पुनर्जाग्रत किया। तदनन्तर उत्पादन के साधन बदल देने वाली वैज्ञानिक खोजों के लिए अंग्रेज आ गए।

इतिहास ही तो हमें बताता है कि हमारे समाज का विकास कैसे हुआ है ? हम जिसे अज्ञान से सनातन कहते हैं वह क्या है ? मनुष्य की मुक्ति के प्रयत्न में कितने सम्प्रदाय नहीं बन चुके ? भिक्षु बनकर मनुष्य ने रह लिया, उसने योगी बनकर देख लिया, शव पर स्थिर होकर श्मशान में मदिरा पीकर तान्त्रिक ने लता साधन किया, सखी-सम्प्रदाय में पुरुष स्त्री

के कपड़े पहनकर स्त्री बनकर रह चुका; किन्तु मनुष्य का समाज किससे सुखी हो सका ?

हम समाज में यह यथार्थ इसीलिए ढूँढते हैं कि हमारा विकास हो सके। प्राचीन के प्रति अज्ञान से ही हमारी अंधभक्ति प्राचीन को पूज्य मान बैठती है। कोई कहता है आर्य ही सनातन हैं। क्यों ? क्योंकि वह नहीं जानता कि आर्यसमाज अब कोई नहीं। कोई ब्राह्मण समाज बनाता है अपने वर्ग के उत्थान के लिए, पर वह नहीं जानता कि ब्राह्मण-व्यवस्था ने दूसरों के सिर पर बैठकर अधिकार चलाया है। वह यह नहीं जानता कि ब्राह्मण की 'करुणा' और अंग्रेजों का 'गोरे आदमी का बोझ' (white man's burden) के नारे वस्तुतः एक ही वस्तु हैं।

इतिहास के इन समस्त सम्बन्धो के मूल में आर्थिक व्यवस्था ही आज तक आधार रही है। किन्तु जो लेखक केवल धार्मिक दृष्टिकोण को ही लेगा और सामाजिक जीवन के अन्य क्षेत्रों को छोड़ देगा वह वास्तव में विकृत समाज-शास्त्री है, उसे कुत्सित धर्मान्धता कहना चाहिए जो वैज्ञानिक चिंतन की बुनियादों को काटता है।

इतिहास पर दृष्टिपात करते समय ही हम जानते हैं कि साहित्य में अपने युग का जो सर्वश्रेष्ठ वास्तविक चित्रण हुआ है, वही सर्वश्रेष्ठ साहित्य बनकर आज तक जीवित रह सका है।

वेद में ऋचाएँ हैं, स्तुतियाँ हैं। परन्तु तत्कालीन समाज का वहाँ पूर्ण चित्रण है। इन्द्र से धन माँगना, इन्द्र और वृत्र का जल के पीछे लड़ना, गायों तथा स्त्रियों के लिए युद्ध होना वेद से ही प्रकट होते हैं। महाभारत और रामायण तो प्रकट ही हैं। कालिदास विलासी ही नहीं थे, उनमें स्त्री के अधिकारों के लिए मार्मिक संवेदना है। भवभूति सीता के द्वारा पुरुषों के सर्वाधिकार का विरोध करते हैं। भारवि में सामन्तीय समाज का प्रतिबिम्ब है। भट्टि, दण्डि और बाण में कल्पना के और रीति के अतिरिक्त समाज की अनेक विषमताओं का चित्रण है जो हिन्दी के परवर्ती

रीतिकालीन कवियों में नहीं है। सन्तों का साहित्य तो ब्राह्मणवाद की बुरी व्यवस्था के प्रति रोष है। सूर में निर्गुण विरोध है। तुलसी में इस्लाम के समानान्तर हिन्दू गौरव को उठाया गया है। भारतेन्दु में देश की दुर्दशा के प्रति वेदना है। मीरा में भक्ति का रूप है स्त्री का भक्ति की स्वतन्त्रता के लिए युद्ध। शेक्सपियर में सामन्तीय समाज का गतिरोध है, मोलियर में सामन्तीय समाज का मजाक उड़ाया है। कार्वेण्टीज में सामन्तीय व्यवस्था का मखौल है। डिवीनिया कॉमेडिया में दान्ते ने तत्कालीन समाज के अनाचार को दिखाकर तपस्पूत मानव का कल्याण दिखाया है, गेटे ने मनुष्य के प्रेम की ही विजय दिखाई है, ताल्स्ताय तो एक क्रान्ति का दर्पण बनकर उपस्थित हैं और रवीन्द्र भारत के विराट अतीत से विराटतर वर्तमान को नई प्रेरणा देते हैं। साहित्य में कब गतिशीलता हुए बिना साहित्य अमर रह सका है?

परन्तु हम इन प्रश्नों से आगे आ चुके हैं। हमारे सामने दो प्रश्न हैं—एक, ऐतिहासिक दृष्टिकोण से प्राचीन साहित्य का उचित मूल्यांकन, दूसरा यह कि आज जो ऐतिहासिक साहित्य लिखा जाय उसे यथार्थ से भरा देखें तो क्या करना होगा, क्या छोड़ना होगा जो अति उग्र क्रान्तिकारिता के गंदले पानी में सब-कुछ डुबा देना चाहता है? दोनों प्रश्नों के लिए उत्तर है—इतिहास का यथार्थवाद उसके वैज्ञानिक अन्वेषण और एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण से ही हो सकता है।

रूसी साहित्यिक इस विषय में विशेष सजग रहे हैं। वहाँ पीटर को महान् कहते हैं, क्योंकि उसने रूस का सुधार किया। वहाँ नेपोलियन के विरुद्ध लड़ने वालों का नाम सम्मान से लिया जाता है। पीटर एक सम्राट् था, नेपोलियन के विरुद्ध युद्ध करने वाले सामन्त थे। फिर उनकी प्रशंसा क्यों? यह तो हुआ कुत्सित दृष्टिकोण। रूसी नेता लेनिन बड़ा मेधावी था। उसने समझाया कि समाज की तत्कालीन व्यवस्था में जिन्होंने समाज को आगे बढ़ाया, वे अवश्य ही प्रशंसा के योग्य हैं।

भारत में राणा प्रताप और शिवाजी भी जन-नायक थे, जो साम्राज्य से जनता को लेकर लड़े थे। पर साथ ही हमें यह भी देखना पड़ेगा कि उनकी कमियाँ क्या थीं। वे ब्राह्मणों के सामने पूर्णतया पराजित थे, क्योंकि सामन्तीय व्यवस्था के बन्धन थे, आदि।

रूस के अनुभवों, चीन के प्रयत्नों ने हमारे सामने बड़े रास्ते खोल दिए हैं। कवि किस्मानी की स्वातन्त्र्यप्रियता आज के कवि के लिए भी सम्माननीय वस्तु है।

कला के क्षेत्र में अविकृत और विकृत चित्रण का ऐतिहासिक यथार्थ-वाद में बड़ा महत्त्व है। अविकृत कहते हैं उस चित्रण को जिसमें तत्का-लीन समाज का वास्तविक चित्रण किया जाता है। विकृत उस चित्रण को कहते हैं जिसमें तत्कालीन समाज के चित्रण में आधुनिक दृष्टिकोणों को ही एक-मात्र पैमाना बना लिया जाता है और पुराने पात्रों के मुख से आधुनिक लेखक बोलने लगता है। उदाहरण के लिए राहुल सांकृत्यायन के ऐतिहासिक उपन्यासों में दिशा-काल को भेदकर अमूमन एकाध मार्क्स-वादी पात्र होता है। वह ऐसी बातें कर जाता है जो तत्कालीन समाज के समय के चिंतन को आगे व्यक्त नहीं करता, वरन् आधुनिक विचारों का प्रतिनिधित्व करने लगता है। यह उचित नहीं है। लेखक अपने को इति-हास पर लाद देता है। राहुल में यह दोष है कि उनमें कला पक्ष का अभाव है, केवल पाण्डित्य का बोझ है।

जितना इतिहास का आधार ठोस होता है उतना ही कला पक्ष को निखार लाने का भी अवसर होता है। यशपाल की 'दिव्या' एक सफल रचना है। उसके पात्र अपने युगानुसार ही बातें करते हैं। यशपाल को बहुत-कुछ स्वयं कहना है। उन्हें इतिहास का वैज्ञानिक विवेचन भी करना है। वे यह सब करते हैं पर सन्तुलन के साथ। यशपाल का कलापक्ष 'दिव्या' में बहुत ही मँजा हुआ है। यशपाल की 'दिव्या' में बौद्ध-समाज पर गहरा प्रहार मिलता है, पर पढ़ने में कहीं नहीं मालूम पड़ता कि लेखक

ने अपनी कुछ धारणाएँ बना ली हैं जिन्हें वह पात्रों पर ठूँसने का यत्न करेगा। सब सहज और मँजे हुए हाथ का कौशल दिखता है। आज हिंदी में प्रेमचंद के बाद यशपाल ही सर्वश्रेष्ठ कथाकार हैं।

वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासों में भी यह सन्तुलन पर्याप्त है। वस्तु का यथार्थ चित्रण है। अपनी 'मृगनयनी' में वे मुस्लिम-शासक द्वारा एक पण्डित की, धर्मान्धता के कारण, हत्या दिखाते हैं। परन्तु वह इतने तटस्थ हैं कि कहीं भी उनमें साम्प्रदायिकता की गंध भी नहीं दिखाई देती। वृन्दावनलाल वर्मा में एक ही अभाव है कि उनकी शैली में रोचकता नहीं आती, उतार-चढ़ाव नहीं आता। समरसता के कारण उनका उपन्यास कहीं-कहीं लचर हो जाता है। पर जहाँ तक ऐतिहासिक यथार्थ का प्रश्न है वे सफल हुए हैं, 'झाँसी की रानी' में भी।

ऐतिहासिक यथार्थ की कसौटी है लेखक का निष्पक्ष होना। न तो वह ब्राह्मण है न बौद्ध, न वह हिन्दू है न मुसलमान, उसके सामने एक ध्येय है कि वह समाज के उस अविच्छिन्न प्रवाह को प्रदर्शित करेगा जिसमें अनेक व्यापार उसके वर्ग-स्वभाव के द्वारा प्रभावित होकर कैसे युग-युग से चलते आ रहे हैं। उसे यह दिखाना ही होगा कि शोषक मनोविज्ञान अपने युग की सीमाओं में कैसे प्रतिफलित था और कैसे जनता पर उसका शोषण चलता था, तथा शोषित उसे किस रूप में स्वीकार करता था। मार्क्सवाद को जानने वाला इसे अधिक सफलता से कर सकता है, पर, मार्क्सवाद से अपरिचित महान् लेखकों ने भी समाज के स्तरों को पैनी दृष्टि से देखा है और वे मानव के इस युगांतर के संघर्ष को देख सके हैं और उन्होंने निरन्तर मनुष्य को गतिशील बनाया है। विक्टर ह्यूगो में मध्यवर्गीय समाज का उत्कर्ष सामन्तीय ध्वंस पर उठता हुआ दिखाई देता है। ड्यूमाज में मध्यवर्गीय चेतना का प्रारम्भिक लुटेरापन तक व्यक्त हुआ है जिसे वह व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का नाम देता था।

यथार्थवाद का यह दृष्टिकोण जितना ऐतिहासिक रचनाओं के लिए

आवश्यक है, उतना ही सामाजिक रचनाओं में भी उसकी आवश्यकता है। भावात्मक रूप से ही जो बौद्धिक समवेदना से वस्तु का वर्णन करते हैं कि वे इसे नहीं समझते। वे भी इसे नहीं समझ सकते जो राजनीतिक भावावेश में एकान्त जड़ता के प्रतिनिधि बन जाते हैं। उदाहरण के लिए प्रेमचन्द ने गाँव का सफल चित्रण किया है। उन्होंने ऊँच-नीच, अच्छा-बुरा सबका वर्णन किया है। उनका जमींदार बुरा 'व्यक्ति' नहीं है, परन्तु अपने आर्थिक सम्बन्धों के कारण वह बुरा हो जाता है। उस बुराई को कोई भी जमींदार 'अच्छा' बन जाने से ही नहीं मिटा सकता। उनका किसान दरिद्र है, दयनीय है। अंध-विश्वासों ने भी उसे जकड़ा है, वह झूठ भी बोलता है, आपस में झगड़ता भी है। प्रेमचन्द का किसान अपने सापेक्ष रूप में उपस्थित है। उसके साथ केवल भावात्मक समवेदना नहीं दिखाई गई है। उसका सफल चित्रण ही इसलिए हुआ है कि उसकी अच्छाई और बुराई दोनों पेश कर दी गई हैं। कुत्सित समाज-शास्त्री, जो राजनीतिक भावावेश में एकान्त जड़ता के प्रतिनिधि बन जाते हैं, इसे ठीक नहीं समझते। उनकी राय में किसान की कमजोरी का चित्रण उसके जुझारूपन को समाप्त कर देगा, अतः उसका वर्णन ही नहीं करना चाहिए। हिन्दी के छिछले मार्क्सवादी आलोचकों का मन्तव्य ऐसा ही है। वे केवल रूस की लकीर पीटना ठीक समझते हैं, जब कि उचित यह है कि रूस और चीन के अनुभवों को देखकर, जो गलत तरीका साबित हो चुका है, उसे छोड़ दिया जाय।

ऐतिहासिक यथार्थवाद, वास्तव में किसी भी युग की राजनीति को ठीक से समझ लेना है। बौद्ध काल में एक नई विचार-धारा ने जन्म लिया। उसने छुआछूत, जन्मभेद तथा दास-प्रथा का विरोध किया था। किन्तु स्वयं बुद्ध ने ही तत्कालीन शासकों से समझौता कर लिया और जो स्वातन्त्र्य की पुकार उठाई थी, वह अपने-आप दबा दी गई। इस कठोर सत्य को न देखने के कारण ही बुद्ध धर्म अपने रोमांटिक रूप में प्रस्तुत

होगा। उदयन के समकालीन अजातशत्रु और विड्डम के बहुधा लिच्छवि और शाक्य गणों से युद्ध होते थे। वे युद्ध अहंकार के कारण बताये जाते हैं जब कि वे यदि कभी खानों के पीछे हुए, तो कभी जाति-भेद के कारण। जाति-भेद बाह्य भावनात्मक कारण था, भीतरी संघर्ष था राज्य की भूख।

वह भारतीय सामन्त-काल का उदय था। गण बर्बरयुगीन व्यवस्था के प्रतीक थे। कुछ उच्चकुल राजा बन जाते थे, प्रजा दास बनकर रहती थी। क्षत्रिय और व्यापारी वैश्यों ने ब्राह्मणों की जाति की उच्चता के विरुद्ध अपना सिर उठाया था। इसलिए स्वतन्त्रता की पुकार उठाई थी। ब्राह्मण ने उस समय सहूलियतें दीं और दास-प्रथा का बहुत करके अंत किया और अपने शोषण का रूप बदल दिया। परन्तु यह जो शोषण का रूप बदला यह दास-प्रथा के शोषण की तुलना में समाज को एक आगे की स्टेज की ओर खींचकर ले गया। गण नहीं बदल सके। वे ग्रीक्स की-सी प्रजातन्त्रात्मक सत्ता चाहते थे। दास-प्रथा की विषमता से उनका समाज लड़खड़ा गया, नष्ट हो गया। सामन्तवाद भारत में भी अन्य देशों की भाँति एक प्रगति बनकर उदय हुआ। सामन्तीय शोषण भारत में एक कारण से प्रतिष्ठा पा गया। वह कारण था निरन्तर विदेशियों के आक्रमण, जिनसे सामन्त युद्ध करके प्रजा से अपना कर वसूल करता था। अनेक विदेशी भारत में आये। कनिष्क, नहपान, चष्टन से लेकर मिहिरगुल तक सब यहीं बस गए।

इसके बाद वह युग आया जब सिद्ध और योगी बढ़े। निरन्तर ब्राह्मण-विरोधी सम्प्रदाय ब्राह्मण-धर्म के समाज की विषमता का विरोध करते रहे। परन्तु जीवन का ठोस आधार समाज में उत्पादन का साधन नहीं बदला। वितरण के माध्यम भी नहीं बदले। व्यापार का संतुलन जब बदलता था तब नीच जातियों को कुछ सहूलियतें मिल जाती थीं।

इस्लाम के आने पर इस्लाम का बराबरी का नारा यहाँ नहीं चला।

ब्राह्मणवाद को तो इस्लाम ने भी स्वीकार कर लिया। भारत के विराट् भूखण्ड की यह अद्भुत विकास-प्रणाली रही कि यहाँ वर्ग-भेद को इसी के दूसरे रूप जाति-भेद ने आक्रांत कर लिया। जड़ भौतिकवादी मार्षि चारवाक के अतिरिक्त किसी ने भी यहाँ पुनर्जन्म के सिद्धान्त का खण्डन नहीं किया। पुनर्जन्म का सिद्धान्त उच्चवर्गों ने स्थापित रखा, अपने वर्ग-स्वार्थ के लिए, किन्तु उसका मूल आर्थिक कारणों में नहीं था। वह मनुष्य के अज्ञान से तथा अज्ञात के भय से उत्पन्न हुआ था। मनुष्य को प्रकृति के विषय में बहुत कम ज्ञात था। वह ऐसे ही अटकल भिड़ाकर अपने मन को संतोष दे लिया करता था।

जातिभेद का यह रूप संसार के किसी अन्य देश में प्राप्त नहीं होता। बर्बरयुगीन समाज में भी यही चार वर्ण थे जो सामन्तकाल में भी स्वीकार कर लिए गए। किन्तु उनका रूप बदल गया। पहले जो चार वर्ण थे वे आर्यों ने अपने अधिकारों की रक्षा के लिए बनाये थे। तब ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और आर्य थे, बाकी आर्येतर, जो उनके अधीन थे वह शूद्र थे। जो आर्यों के अधीन नहीं थे वे नाग, गन्धर्व, किन्नर, यक्ष, राक्षस आदि जातियाँ थीं। निषाद, पुलिन्द, कुलिन्द, शबर आदि ऐसी ही जातियाँ थीं। किन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है, उत्पादन के साधन के स्थान पर व्यापार का सन्तुलन (Balance of Trade) बदलने से समाज में चातुर्वर्ण्य का नया रूप उठा। जातियों की अपने-अपने वर्ग-हित के अनुसार आर्यों के चातुर्वर्ण्य समाज में अन्तर्भुक्ति हुई। वे जातियाँ परस्पर विवाह आदि नहीं कर सकीं। इसलिए जाति-व्यवस्था जटिल होती गई। आज हम जातिहीन समाज के निर्माण में लगे हैं। वैसे हम जाति-प्रथा को तोड़ सकते हैं। मशीन के द्वारा यदि व्यावहारिक पक्ष में हम जाति-प्रथा के विरुद्ध युद्ध करते हैं; तो इतिहास के यथार्थ को प्रस्तुत करके ही हम जातिवाद की परम्परा और उसके दार्शनिक पक्ष का खण्डन कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त और कोई चारा नहीं है। बर्बर-

युगीन ब्राह्मणवाद अपने शास्त्र-बल पर जीवित था, सामन्तयुगीन ब्राह्मणवाद भाग्यवाद पर जीवित था। पूँजीवादी-युग में वह बन्धन टूट रहे हैं क्योंकि मनुष्य के उत्पादन के साधन पुरानी धारणाओं को बदल रहे हैं।

वस्तुतः जब हम ऐतिहासिक यथार्थवाद की बात करते हैं तो हम पुराने दर्शन-शास्त्रों को देखते हैं। कैसे वे समाज की आर्थिक व्यवस्था से प्रभावित होकर जन्म लेते थे और बाद में कैसे वे समाज को प्रभावित करते थे, यह एक अनुसंधान का विषय ही नहीं, पग-पग पर समझने योग्य सत्य बन जाता है। शंकर का वेदान्त वास्तव में सामन्तीय व्यवस्था को ज्यों-का-त्यों छोड़कर एकान्तिक पलायन की ओर अग्रसर होता था। उसका प्रभाव वैसा ही पड़ा जैसी उसकी अवस्था थी। किन्तु शीघ्र ही उसमें विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय ने परिवर्तन उपस्थित किया। समाज की विषमता ने ज्ञान के स्थान पर प्रेम को स्थान दिया। दर्शन हवा में से पैदा नहीं होता, वह संसार को समझने का प्रयत्न होता है। समाज के रूप को देखकर वर्ग-विशेष कुछ धारणाएँ बना लेते हैं। उन धारणाओं का नाम दर्शन है। यह धारणाएँ बदलते युगों में बदलती रहती हैं। उदाहरण के लिए स्पष्ट है वेद के विराट् पुरुष का वर्णन। उसमें सृजनात्मक ध्वनि है और वह कल्याण के स्वर से भरा है। वह उस युग में बना है जब बर्बर-युग में समाज ने अपना रूप स्पष्ट धारण किया। उसमें एक गतिशीलता है क्योंकि शूद्र का स्थान उन्नत हुआ है। ठीक इसके बिपरीत गीता का विराट् पुरुष है। एकदम भेद है। यह बर्बर-युग के ध्वंस-प्राय समाज का चित्रण है। यह विराट् पुरुष भयानक है। बर्बर-युग युद्ध के द्वार पर सब-कुछ विनष्ट कर देने को खड़ा है और गीता में ही उगते सामन्तवाद के लिए नया दर्शन प्रस्तुत है। गीता के आत्मवाद का एक स्वर यह भी है कि हम निमित्त हैं। निमित्त का सामाजिक पक्ष है कि व्यक्ति समाज से ऊपर नहीं है, वह इतिहास की धारा में बह रहा है, वह एक निमित्त है। बर्बर-युग में जो व्यक्ति अपने को भटका हुआ समझता था, उस चिन्तन की अब

गुञ्जाइश नहीं रही है। अब वर्ण भेद स्पष्टतः ही व्यक्ति को एक ओर कुछ स्वतन्त्रताएँ देता है किन्तु उसे वर्ग की धारा में बहता हुआ बना देता है।

इतिहास का यथार्थ केवल जैसे का तैसा ही चित्रण नहीं है। उसमें वर्ग-भेद के कारणों को समझना है, वर्गों के पारस्परिक सम्बन्धों को भी जान लेना है। वर्ग-भेद का यह विकास अपने द्वन्द्वात्मक रूप में रहा है और द्वन्द्वों के भीतर भी विरोध रहे हैं जो पारस्परिक विरोधों के कारण द्वन्द्वात्मकता में मनुष्य को निरन्तर विकास की ओर बढ़ाता रहा है।

मार्क्स ने इतिहास का गम्भीर अध्ययन करके यही तथ्य निकाला था कि समाज का भी द्वन्द्वात्मक विकास होता है। दो के संघर्ष से परिणाम में गुण बदलता है और तीसरा जन्म लेता है। उस तीसरे के साथ फिर एक द्वन्द्व आ जाता है और उनमें परस्पर संघर्ष प्रारम्भ हो जाता है। इसलिए मार्क्स ने मनुष्य समाज को प्रकृति से द्वन्द्व करने को कहा था।

रूमानी दृष्टिकोण और कला कला के लिए कहने वाले इस वर्गयुद्ध को नहीं छिपा सकते जो युगान्तर से हमारे समाज में होता आया है। जब मनुष्य आदिम साम्यवाद के युग में था तब वह प्रकृति के सामने बहुत ही निर्बल था। वह साम्यवाद निश्चय ही ऐसा सुन्दर नहीं था कि मनुष्य-समाज को उस ओर लौटा ले जाने का प्रयत्न किया जाय। अतिरिक्त इसके प्रयत्न करने से ही इतिहास को लौटाया भी नहीं जा सकता। आदिम साम्यवाद के बाद जैसे-जैसे समाज का विकास होता गया हर मंजिल पर पहले की अवस्था से एक कदम आगे बढ़ना था।

इस विराट् मानव गति की कला, उस गति को सफल बनाने को चित्रण करती है। महान् कला वही है जिसमें प्रगति का बीज है। कला मनुष्य की सामूहिक क्रियाओं की वह अनुभूमि है जो उसके अपने सुख-दुःख, श्रम को हल्का करने के लिए बनाई थी। प्रत्येक युग में उसकी अनुभूति का रूप

बदला है और कला भी बदलती रही है। यह अनुभूति का रूप बदला है, क्योंकि उसकी अनुभूति के चारों ओर रहनेवाली वस्तु तथा उसके पारस्परिक सम्बन्ध भी बदलते रहे हैं। संसार का श्रेष्ठ साहित्य मनुष्य-जीवन की गहराइयों को मापने में समर्थ हुआ है। कुछ ऐसे काव्य भी हैं जिन्होंने समय को रोका है, पर सुन्दर हैं।

तुलसी के 'रामचरितमानस' में यही बात है। तुलसी से पहले अनेक सन्त हुए जिन्होंने जात-पाँत का विरोध किया था। उन्होंने 'देशी भाषा' का भी साहित्य में प्रयोग किया था। परन्तु तुलसी ने उस संत-विद्रोह को दबाकर फिर से चातुर्वर्ण्य समाज के पुनर्जागरण की चेष्टा की। वे इसमें सफल भी हुए। पर इसका कारण था कि उच्चवर्गीय हिन्दुओं ने वास्तव में इस समय तक अपने को फिर से संगठित कर लिया था। इस संगठन से पूर्व ही उन्होंने सन्तों के उठाये विद्रोह के कारण अनेक सहूलियतें शूद्रों को दे दीं। तुलसी के मानस में सहूलियतें हैं तो, पर ऐसी रचनाएँ प्रसिद्ध हैं जो समाज को पीछे खींचती हैं तो 'मानस' भी उन्हीं में से एक है। अब प्रश्न उठता है कि फिर 'मानस' महान् कला है या नहीं? काव्य की दृष्टि से वह महान् है। तो फिर प्रश्न उठता है कि यदि वह महान् चित्रण है तो समाज को गतिशील बनाने वाले साहित्य की आवश्यकता ही क्या है? यह तो ऑस्करवाइल्ड वाली बात आ गई कि साहित्य केवल अच्छा या बुरा होता है, वह या तो अच्छा लिखा होता है या बुरा।

नहीं। तुलसी ने अपनी समस्त प्रतिक्रिया के बावजूद एक काम किया, उसने मुगल-साम्राज्य के विरुद्ध जो समानान्तर खड़ा किया उससे अनेक लोगों को शक्ति मिली। दारा ने हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य का मान किया। कट्टर मुल्ला नहीं सह सके। एकदम जाट, मराठा, सिख उठ खड़े हुए। उच्चवर्गीय हिन्दू उठे और जनता को उन्हें साथ लेना पड़ा। साम्राज्य का विरोध करवाने में तुलसी में गतिशीलता थी। प्रत्येक युग का सामाजिक

यथार्थ ही ऐतिहासिक यथार्थ है। समाज की व्यवस्था को देखते समय हमें युग के बन्धनों को भी देखना आवश्यक हो जाता है। यह बन्धन प्रत्येक समय में रहे हैं। पर इन बन्धनों की जाँच के लिए भी तत्कालीन गतिशीलता को देखकर तब ही अपनी धारणा बनानी चाहिए।

इतिहास जनता के उत्थान और पतन की कहानी है। सदियों की संस्कृति की विरासत इतिहास है। हमें उससे अपना भविष्य प्राप्त करना है। प्रत्येक युग में मनुष्य कैसे बद्ध था यह इतिहास ही बताता है। मनुष्य ने जो प्रकृति से संघर्ष किया है, इतिहास में उसका वर्णन है।

इतिहास प्रेरणा देता है। इतिहास मनुष्य की उन बाधाओं को बताता है जिन्होंने उसे पग-पग पर रोका है। मनुष्य ने अपने समस्त बन्धनों के बावजूद प्रकृति से संघर्ष किया है अपने समाज को सुखी बनाने को, सृष्टि के रहस्यों को समझने के लिए।

हमारा उद्देश्य है अज्ञान और अन्धविश्वास का नाश करना। युग-युग से मनुष्य की गति को प्रकृति और सृष्टि का यह रहस्य रोकता रहा है और मनुष्य निरन्तर उससे लड़कर उसे जीतता रहा है। हमारे सामने अनेक यत्नों की वह कहानी है जिससे मनुष्य का पथ अच्छा बन सकता है। वे बाधाएँ प्रकृति और मनुष्य में हैं और, मनुष्य और मनुष्य में हैं। मनुष्य और मनुष्य के बीच की यह खाई मिटाने का हमारा प्रयत्न है। इसीलिए हम इतिहास का वह सच्चा रूप देखना चाहते हैं जिससे हमारा विकास हुआ। चमत्कार, रोमांसवाद आदि ऐसे तथ्य हैं जिनके विरुद्ध हमें प्रचार करना है।

किन्तु प्रचार का कौन सा रूप साहित्य में होना चाहिए? क्या नारेबाजी उचित है? क्या हमें भी तुलसीदास की भाँति असहिष्णुता से पुराणकार की भाँति अपने विरोधियों को तर्क छोड़कर गाली देनी है कि जो हमारी बात नहीं मानता वह युगान्तर तक नरक में सड़ता रहेगा।

नहीं। प्रचार का तात्पर्य है, असलियत को खोलना। साहित्य में यह कार्य बहुत सरल है। वास्तविकता के हम जितने निकट होंगे उतनी ही सरलता से हम वर्गों की परिस्थिति पर प्रकाश डाल सकते हैं।

प्रचार को कभी इतना अधिकार न देना चाहिए कि वह ऊपर से ठूँसा हुआ प्रतीत हो। शेक्सपियर-काली बैन जौन्सन ने यही किया था। हिन्दी में पहले यह आर्यसमाजियों ने किया था, अब उग्र बामपन्थी कर रहे हैं। प्रचार के इस आवेश में लेखक अपनी बात कहता है, इतिहास को नहीं बुलवा पाता। एंगिल्स ने इसका अनेक बार विरोध किया था कि प्रचार को भद्दे तरीके से साहित्य में पेश किया जाय।

चरित्र-चित्रण की सफलता साहित्य की सफलता है क्योंकि साहित्य में, व्यक्ति में ही समाज का प्रतिनिधित्व होता है। उस व्यक्ति को यदि कठपुतली के रूप में चित्रित किया जाता है तो वह कभी प्रभाव नहीं डाल सकता। इतिहास में जब हम जिस युग के व्यक्ति का चित्रण करेंगे हमें उस युग के ही व्यक्ति का चित्रण करना पड़ेगा। गुप्तकालीन आर्य का चित्रण करते समय उसकी मान्यताओं में हमें सुमेरु के पीछे डूबता हुआ सूर्य दिखाना ही पड़ेगा और साथ ही यह भी प्रकट करना होगा कि यह गलत था। पर इस गलती को हम उसके मुख से नहीं कहलवा सकते। व्यक्ति की भावनाओं का सफल चित्रण आवश्यक है। साहित्य का उद्देश्य इतिहास नहीं है। साहित्य में दिखाना है कि एक विशेष युग में एक विशेष सामाजिक व्यवस्था में मनुष्य कैसे रहता है और उस पर क्या प्रभाव पड़ता है।

साहित्य सहित का भाव है। पर उसमें व्यक्ति की प्रतिष्ठा है। व्यक्ति की प्रतिष्ठा के लिए ही तो साहित्य प्रत्येक युग में रचा जाता है। पर इस व्यक्ति का रूप क्या है? क्या इसका प्रेम नहीं बदलता? क्या इसकी ईर्ष्या नहीं बदलती? युगों के पर्दे फाड़कर देखने पर मिलता है कि एक समय स्त्री अपनी संतान को जन्म देते ही छोड़ जाती थी। वह स्त्री यक्ष-समाज

की अप्सरा थी, जो स्वेच्छाचारिणी थी। वहाँ स्त्री पर किसी प्रकार के यौन-प्रतिबन्ध नहीं थे। प्रत्येक युग किस प्रकार बदलता है और उसके बदलने के साथ मनुष्य की भावनाएँ भी किस प्रकार बदलती जाती हैं, यह अध्ययन और मनन का विषय ऐतिहासिक यथार्थवाद का ही रूप है। पहले मनुष्य अपमान होने पर तलवार निकाल लेते थे; अब वे कचहरियों में कागज लेकर जा खड़े होते हैं। यह क्या व्यक्ति पर लगे हुए विभिन्न परिस्थितियों के प्रभाव को प्रकट करने वाली वास्तविकताएँ नहीं हैं?

'व्यक्ति के उस समाज में पूर्ण अधिकार थे जब वह जंगल में अकेला रहता था। ज्यों ही उसके साथ स्त्री आई उसके अधिकार कुछ कम हुए। तब से निरन्तर जैसे-तैसे समाज का विकास बढ़ता जा रहा है, व्यक्ति के अधिकार कम होते जा रहे हैं। समाजवाद में व्यक्ति के अधिकार बहुत कम हो जायँगे।' यह कुछ लोगों की विचार-धारा है। वस्तुतः यह गलत है। जब व्यक्ति अकेला है तो क्या उसके अधिकार और क्या उसके कर्तव्य समाज में जैसे-जैसे विकास होता है, एक दूसरे के प्रति वैसे ही कर्तव्य बढ़ता है। जहाँ अकेले रहकर मनुष्य को वह सहूलियतें सपने में भी न थीं, संघ-शक्ति में वह सब नैमित्तिक सुख बन जाता है। दूसरे की स्वतंत्रता की जितनी ज्यादा इज्जत की जायगी, उतनी ही अपनी स्वतन्त्रता की बढ़ोत्तरी होगी। अतः स्पष्ट हुआ कि व्यक्ति के अधिकार बढ़ते ही जाते हैं। समाजवाद में ही व्यक्ति को पूर्ण अधिकार प्राप्त होंगे जब वह पढ़ेगा, खाने को पायेगा, चिन्तामुक्त होगा, रोगमुक्त होगा और कला और विज्ञान के पास जाने की सहूलियत होगी।

साम्राज्यवाद और पूँजीवाद आज के ऐतिहासिक दौर में मनुष्य के अन्तिम शत्रु हैं। उन्होंने समाज पर जटिल बन्धन लगाये हैं। साहित्य का यथार्थ एकांगी नहीं है। मनुष्य की सर्वांगीण समस्याएँ साहित्य का क्षेत्र हैं ऐतिहासिक यथार्थ मनुष्य का युगों के पथ पर चलने का एक ब्यौरा है, वह मनुष्य की विराट् प्रगति का एक अंश है। केवल आर्थिक व्यवस्था का

अध्ययन या केवल प्रेम की समस्याओं की उलझन या केवल यौन-अतृप्ति का दाह, यह सब असल में खंड-रूप से मनुष्य के अध्ययन हैं। व्यक्ति वह नहीं है; जो ऐसा है कि उस जैसा और संसार में कोई है ही नहीं, व्यक्ति एक प्रतिनिधि है।

ऐतिहासिक यथार्थवाद मनुष्य के सत्य का, युग-युग का वर्णन है जो हमें निरन्तर विजय की ओर प्रेरित करता है।

———

साहित्य में संकीर्णतावाद

१. लेखकों के संयुक्त मोर्चे का आधार होगा—जनता की सेवा। अर्थात् उन सबको क्षीण और निर्बल बनाने के लिये युद्ध जो जनता के शोषक हैं—यानी सामंतवादी ध्वंसावशेष जो पूँजीपतियों के पिछलगुए हैं, और पूँजीपति जो जनता के हाथ में ताकत न पहुँच जाय इसलिये सामंतवाद से समझौता कर रहे हैं, फिर अमरीकी गुलाम जो देश की आज़ादी को बेचना चाहते हैं।

यही हमारी सांस्कृतिक चेतना होगी। जो हमारे साथ है वह उसे स्वीकार करेगा। वर्तमान धुरी है—विश्व शांति। हाल ही में एक गुमनाम (अर्थात् उत्तरदायित्वहीन) पत्र 'हंस' में छपा था। उसकी ध्वनि थी कि शांति एक कम्युनिस्ट जाल है। प्रगतिवाद उसके अतिरिक्त भी है। यह गलत है। साम्यवाद लाने के जितने कदम हैं, वे कूटनीतिक नहीं हैं, प्रत्येक पग दूसरे से संबद्ध है। संयुक्त मोर्चा एक दूसरे को धोखा नहीं है। संयुक्त मोर्चे का अर्थ यों है—

(१) हमारे आपस में छोटे मतभेद हैं, मूलतः एक ध्येय है। छोटे का भेद छोड़ कर शत्रु को निर्बल बनाने के लिये हम एक होते हैं।

(२) जो एक ध्येय रख कर भी मोर्चे में नहीं आता, वह फरेबी है, वह दुश्मन का गुर्गा है। संयुक्त मोर्चा उन सब का पर्दाफाश करने के लिये है जो छिपेरुस्तम हैं।

(३) संयुक्त मोर्चा कदम ब कदम आगे बढ़ेगा। बढ़ती हुई जनशक्ति

की माँगों से जिसका स्वार्थ जब भी टकरायेगा, वह चूर हो जायेगा। आखीर तक वही चलेगा जो भी जितना अधिक सच्चा और निःस्वार्थ होगा।

(४) सयुक्त मोर्चे का अर्थ यह नहीं होगा कि आपस में एक दूसरे की आलोचना नहीं होगी। होगी—पर मदद करके गलतियाँ दूर करने को। रामविलास शर्मा का रुख छोड़ना होगा कि अपनी गलती पर अड़ कर उन चीजों पर ध्यान देते रहें जिनसे दुश्मन पर कोई चोट नहीं होती। अर्थात् उन्हें दुश्मन समझो जिनके पास ताकत है। जो ताकत नहीं रखते, उन्हें दुश्मन समझ कर अपनी ताकत बरबाद मत करो।

तो इस निरंतर संघर्ष में प्रत्येक बात कड़ी बन कर एक दूसरे में गुंथी है। पहली कड़ी को गाली दे कर अंतिम को ठीक कहना भी त्रात्सकीवाद का परिचायक है, क्योंकि यह मत भूलो कि सब चीजें मिल कर हमें मंजिल की तरफ पहुँचाती हैं।

बहुत से लोग शाँति चाहते हैं, परन्तु वे पूँजीवादी शोषण को स्वीकार करते हैं। वे रूस को भी युद्ध-रत समझते हैं। ऐसे लोग भी हमारे साथ रह सकते हैं। संयुक्त मोर्चा कम्युनिस्ट मोर्चा नहीं, जनता का मोर्चा है, जिसमें वे सब आ सकते हैं जो शाँति चाहते हैं। मैं यहाँ एक विरोधी बात कह गया। पूँजीवादी शोषक क्या शाँति आंदोलन में आ सकता है? आ सकता है। कौन सा, छोटा पूँजीवादी।

कम्प्रेडोर बड़ा पूँजीपति, सामंत और उसके गुर्गे ही शांति के शत्रु हैं।

रूस के विरोधियों से न डरिये। वे जब युद्ध के विरुद्ध बोलते हैं तो रूस का विरोध जहाँ अभावात्मक (Negative) होता है, अमरीका का निश्चयात्मक (Positive)।

मानसिक जड़ता से काम नहीं चलेगा। अगर जनता को ड्यूमा से अभी आशा है, तो उसे ड्यूमा भी देख लेने दीजिये।

जब पूँजीवादी अमरीका का विरोध करता है तो वह पूँजीवाद के आंतरिक संघर्ष को प्रकट करता है, अपने वर्ग की जड़ काटता है। पूँजी-

वादी विचार ध्वंसोन्मुख हैं। उनका पर्दाफाश करने के लिये उनकी आपसी फूट का लाभ उठाना चाहिये। सर्वहारा लेखक ठोंक-पीट कर नहीं बनाये जाते, जनता का निरंतर बढ़ता हुआ आंदोलन ही उनको पैदा करता है।

विश्वशांति, नागरिक अधिकार, बेकारी और गरीबी की समस्याएँ आज संयुक्त मोर्चे के बनाने में इतनी पुख्ता बुनियाद हैं कि बयान नहीं किया जा सकता। यों देखिये कि इनका उल्टा क्या है? युद्ध, फासिस्टवाद एक ओर। गरीबी बेकारी को कायम रखना दूसरी ओर। है कोई माई का लाल जो आज कहे कि यह चीजें उसे चाहिये? अमरीका के पूँजीपति तक दो बातें कहते हैं। हमें व्यक्ति की स्वतंत्रता चाहिये। और कम्युनिस्ट बुरे हैं। सिवाय इन दो बातों के इन हृदयहीन बदजातों के पास तीसरी बात तक नहीं। मुझे भारत की जन परम्परा का बड़ा भरोसा है। यहाँ तो जो लेखक उस संयुक्त मोर्चे में नहीं आयेगा जो विश्वशाँति, नागरिक अधिकार, गरीबी-बेकारी विरोधी संघर्ष को लेकर चलेगा वह अपने आप प्रकट कर देगा कि वह जनता का शत्रु है।

संयुक्त मोर्चा जनता की ताकत हासिल करने के लिये होगा, न कि पहली ही मंजिल में सर्वहारा की शक्ति के लिये।

२. लेखकों का पारस्परिक सहयोग द्वेषपूर्ण आलोचना से बिगड़ता है, गुट्टबंदी से बिगड़ता है। उग्रवाद और संकीर्णतावाद से बिगड़ता है—अर्थात् मूर्खता, जड़ता और अंधविश्वास से बिगड़ता है। लेखकों का पारस्परिक सहयोग बढ़ाने के लिये गैरजिम्मेदार आदमियों के हाथ से प्रगतिशील लेखक संघ के संचालन को हटाकर उसे और अच्छे और समझदार हाथों में रखना है।

३. कठिनाइयाँ अनेक हैं। आपस की फूट, जन-नेताओं की राजनैतिक अशिक्षा से प्रारंभ करके पार्टियों का आपसी विद्वेष तक कठिनाइयाँ हैं।

संघर्ष के पथ में गलती होती हैं। उन्हें सुधारना चाहिये। गत मास "जनवाणी" में किन्हीं श्री राजाराम ने लिखा था कि यह बात वास्तव में

गलत है। मैं उनको समझाना चाहता हूँ कि प्रगतिशील लेखक संघ, कम्युनिस्ट पार्टी नहीं है। यह नारा देकर जनता को इस लेखक संघ के विरुद्ध नहीं भड़काया जा सकता कि प्रगतिशील लेखक संघ विदेशी है। याद रखना चाहिये कि हर भैंसे पर चढ़ कर हर कोई यमराज नहीं बन जाता। भारतीयता-भारतीयता—का राग अलाप देने से ही जनता का मित्र कोई नहीं बन जाता।

जनता के लिये !

अमरीकी संरक्षण में जो नई भारतीयता का जन्म हो रहा है, उसको हमारा संयुक्त मोर्चा ही रोक सकेगा।

'हमारे साहित्य में ट्राट्स्कीवाद पूरी तरह उतर आया था। इसका मुख्य श्रेय मैं डा० रामविलास शर्मा को देता हूँ। दुश्मन को जानने के लिए यह जरूरी नहीं है कि हम इसी पर सन्तोष कर लें, कि हमारे दोस्त उसके बारे में क्या कहते हैं। हमें यह देखना चाहिए, कि दुश्मन क्या कहता है। इस आधार पर हमें आलोचना के स्तम्भों को देखना चाहिए। ट्राट्स्की ने अपने 'साहित्य और क्रान्ति' (Literature and Revolution) में माइकोवस्की पर कुछ लेख लिखे हैं। उन लेखों की यदि डा० रामविलास की आलोचना शैली से तुलना की जाय, तो मेरी बात का अक्षरशः प्रमाण प्राप्त होगा। मार्क्सवाद को गलत समझना ही सबसे बड़ी गलती रही है। दूसरे यह जो मार्क्सवादी आलोचक रहे हैं; इनके आर्थिक आधार इस बात को स्पष्ट कर देंगे की यह गलती क्यों हुई। टुटपुँजिया वर्ग का आलोचक जो जनता से दूर रहता है वह अपने को किसी प्रकार क्रान्तिकारी साबित करने के लिए अधिक से अधिक गला फाड़ कर क्रान्ति-क्रान्ति चिल्लाता है। यह क्रान्ति का इतिहास हमें बताता है; ऐसे लोगों का बाहुल्य सदैव संकीर्णतावाद को जन्म देता है और क्रान्ति के नाम पर क्रान्ति की हत्या की जाती है। ये लोग ही संकीर्णतावाद और सुधारवाद को जन्म देते हैं।'

'जिन आलोचकों ने ये गलतियाँ की हैं, उन्हें बहुत ईमानदारी के साथ जनता के सामने, अपनी अशिक्षा से उत्पन्न उस नासमझी को प्रकट करके, इस बात को स्वीकार करना चाहिए कि वे अब अपने को शिक्षित करने का प्रयत्न करेंगे और मार्क्सवाद को विकृत करने के कठमुल्लापन और लीडरी को छोड़ कर जनता के साथ रहेंगे। और जो ऐसा नहीं करते उन लोगों का ज्यादा से ज्यादा भंडाफोड़ करके उनको अलग करना ही हमारी गलतियों को दूर कर सकेगा। क्योंकि जो उन्होंने किया है वही गलत है; और वही न करना सीधे रास्ते को पकड़ना है।"

'संयुक्त मोर्चे का प्रश्न इसलिए उठता है, कि जनता अपने कष्टों के प्रति जागरुक है; और साम्राज्यवादी युद्ध चाहते हैं तथा भटकन में डाल कर जनवादी देशों की प्रगति को रोकना चाहते हैं। युद्ध ही आज साम्राज्य-वादियों का एकमात्र हथियार है जिससे वे अपनी आर्थिक व्यवस्था के दिवालिएपन को छिपाना चाहते हैं। शान्ति जनवादी देशों की पहली माँग है। शान्ति के लिए ही संयुक्त मोर्चा चाहिए। आज की परिस्थिति में विश्व-शान्ति ही प्रत्येक देश में क्रान्ति के लिए आवश्यक है। क्रान्ति समाज की व्यवस्था बदलने का नाम है; न कि रक्तपात या आतंकवाद का। न शान्ति का नारा अहिंसा का ढकोसला ही है।

'शान्ति ही संयुक्त मोर्चे का आधार होगा। बस आधार के साथ वर्ग चेतना और जन आन्दोलन को आगे बढ़ाने वाली प्रवृत्ति, चिन्तन और क्रिया इस आधार के साथ बँधी हुई हैं।'

'इस संयुक्त मोर्चे का उद्देश्य होगा—

(१) जनता की भाषा में बोलना, न कि मार्क्सवाद के उद्धरण देते फिरना।

(२) परिस्थितियों में क्रान्ति के समस्त सहयोगियों को ढूँढ़ना, न कि अपने को अधिक क्रान्तिकारी साबित करने के लिए लोगों को क्रान्ति का गलत रूप दिखाकर उन्हें शान्ति से डराना।

(३) युद्ध विरोधी शक्तियों को एकत्र करना और शान्ति आन्दोलन बढ़ाना, जिसका अर्थ है—जनता के आर्थिक प्रश्नों को लेकर यह दिखाना कि उनमें कौन अड़ंगा डालता है।

(४) संसार के शान्ति आन्दोलनों से एकता करना। किन्तु आँख बन्द करके दूसरे देशो की परिस्थितियों को अपने ऊपर नहीं लागू करना होगा। अपनी परिस्थितियां को देख कर अपनी राह बनानी होगी।'

'वे जो युद्ध को आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक रूप से जघन्य मान कर उसके खिलाफ अपनी आवाज उठाते हैं। यदि कोई लेखक बौद्ध मत के बारे में भिन्न विचार रखता है, या कोई अन्तश्चेतनावादी है, या कोई स्वप्न लोक में विचरने वाला है, या फ्रायड का चेला है, या शिवजी पर बेल पत्र चढ़ाने वाला है यह सब भी यदि युद्ध के इसलिए विरोधी हैं कि युद्ध साम्राज्यवादियों का हथियार है, युद्ध संसार की जनवादी शक्तियों का शत्रु है तो वे संयुक्त मोर्चे में आ सकेंगे।'

'राजनीतिक समझ का जब प्रश्न उठता है, तो यह साफ करना चाहिए कि ट्राट्स्कीवाद हमारी राजनीति का आधार नहीं है। ट्राट्स्की हमारे लिए एक नाम नहीं है। ट्राट्स्की वह आदमी था, जिसने कहा था कि अकेले रूस में समाजवाद की स्थापना मार्क्सवाद के साथ गद्दारी है। इसलिए उसने रूस के खिलाफ जर्मनी से मदद माँगी थी। अगर ऐसी समझ हम अपने सामने रखेंगे और आपस के छोटे-छोटे भेदों में लड़ते रहेंगे जैसे मध्यकालीन राजपूत 'यह तोमर है, यह कछवाहा है' कह कर आपस में लड़ते थे, तो साम्राज्यवादी जूता हमको हमारे भेदों का लाभ उठाकर बहुत आसानी से कुफल देगा। योरप में फासिस्तवाद का विकास इसका उदाहरण है। मैं उस परम्परा को मानने वाला हूँ, जिसने फासिस्तों को रोकने के लिए कमजोर अंग्रेजी साम्राज्यवाद तक को फासिस्त से लड़ने के लिए मजबूर किया था। क्योंकि मेरे सामने साफ था कि छोटे-छोटे

दुश्मन से लड़कर वक्त बरबाद करने के बजाय बड़े दुश्मन से लड़कर उसको खतम करने में छोटा दुश्मन प्रतिदिन स्वयं निर्बल होता जाता है; और जो ताकत बड़े दुश्मन को खतम करने में समर्थ होती है, उसके सामने छोटा दुश्मन आक के पौदे की उड़ती रूई से भी हलका साबित होता है। इसलिए वही राजनीतिक समझ ठीक है जो उपर्युक्त सिद्धान्त को मानती है। जो नहीं मानती, उसको हमें अधिक से अधिक वेग से ऐसे निकालना पड़ेगा जैसे रसोई के पट्टे के नीचे बैठी कातर को झाड़ू से मार देना ही सबसे बड़ा न्याय है। अतः राजनीतिक समझ की एकता ही किसी भी आन्दोलन की बुनियाद है; और वह बुनियाद क्या है— युद्ध का विरोध। क्योंकि युद्ध का विरोधी आज वही हो सकता है जो साम्राज्यवाद का शत्रु है। इस प्रकार मैं आपके इस प्रश्न को पहली शर्त मानता हूँ। क्योंकि जनता का जनवादी मोर्चा बनाने के युग में तात्कालिक राजनीति होगी जनता का जनवाद, न कि तात्कालिक सर्वहारा क्रान्ति। जो दूसरे नारे के सिद्धान्त को तात्कालिक राजनीतिक आधार बनाकर पहले नारे को अपना तात्कालिक अमल बनायेगा वह पूँजीवादी बाजार के सटोरिये से किसी कदर कम नहीं। पुराने जमाने में तान्त्रिक लाश के ऊपर मरघट में बैठकर मुर्दा जिलाने का प्रयत्न किया करते थे। उनका विश्वास था कि अब यह लाश कुछ बोलेगी, जिससे उनकी किस्मत खुल जायगी। मार्क्सवाद मुर्दा नहीं है। उसको मुर्दा समझने वाले लोग ही दिमागी तौर पर दिवालिए हैं। मार्क्सवाद दिन में दूकान में चिराग जलाकर बैठना नहीं है, सूरज की रोशनी में काम करना है।'

'हमें मध्यम वर्ग को अपने साथ लेना पड़ेगा। आज के दिन हमें जनता का जनवादी संयुक्त मोर्चा बनाना है; इसमें हमें सर्वहारा क्रान्ति को नहीं घुसाना चाहिए। सर्वहारा क्रान्ति अगली मंजिल है। जनता का जनवादी मोर्चा बनाने में अगर हम सफल हो गये तो सर्वहारा क्रान्ति का रास्ता साफ और आसान हो जायगा। अगर इसको नहीं समझते तो हम

वही गलती कर रहे हैं जो एम० एन० राय ने की थी—कि भारत में अंग्रेजी साम्राज्यवाद कभी का खतम हो चुका है। अंग्रेजों की ताकत तो कुछ है ही नहीं। हमें तो कांग्रेस से लड़ना चाहिए, अंग्रेजों से नहीं। क्योंकि University of the east में सन् १६२६ में स्टालिन ने कह ही दिया था कि हिंदुस्तान के बड़े बुर्जुआ साम्राज्यवाद से मिल गये हैं। अतः अंग्रेजी साम्राज्यवाद से लड़ना जातियता (Racial) का युद्ध है। इसलिए कांग्रेस से ही लड़ना ठीक है। इस प्रकार स्टालिन, लेनिन या मार्क्स के उद्धरणों को विकृत करना अपने ही दिमाग को कवाड़िये की दूकान साबित करना है जहाँ पुपानी मेजों पर पालिश करके उन्हें नया कहा जाता है।'

'सामान्य ध्येय होगा जनता की सेवा। सेवा का अर्थ है—एक ओर जनता को आगे बढ़ने का रस्ता बताना, दूसरी ओर उसकी कमजोरियों को उसके सामने स्पष्ट करना। मजदूर-किसान की झूटी खुशामद करना कि मैं क्रान्तिकारी हूँ, जनता के साथ सबसे बड़ी गद्दारी है। जैसे आज की परिस्थिति में यह दिखाना कि मजदूरों ने बाँस लेकर पूँजीवादी फौजों के तोपों को गिरा दिया, एक झूठा चित्रण है। अगर ऐसा हो सकता तो स्टालिन से बढ़कर बेवकूफ कोई न होता जिसने बाँसों के बजाय जर्मन आक्रमण को रोकने के लिए बन्दूकें और तोपें उठाईं। जो इस सेवा को ठीक समझेगा, वह अपना सामान्य ध्येय ठीक समझ कर अधिक से अधिक एक की तरफ बढ़ेगा और जो हमारा विरोधी होगा कदम-कदम पर जनता के सामने अपने छद्म वेशों को छिपाने में असमर्थ होगा।'

'विरोध में अन्तर नहीं है, साम्राज्यवाद और सामन्तवाद के रूप में अन्तर आ गया है। हमें बदलती हुई परिस्थिति में नये तरीके से काम करना पड़ेगा। हमको नये नाटक दिखाने पड़ेंगे, न कि थियेटर तोड़कर बनाने पड़ेंगे, सिर्फ इसलिए कि किसी जमाने में वे उठते हुए पूँजीवाद के पैसे से बने थे। आज वह पूँजीवाद भी हमारा शत्रु है जिसके बल पर

साम्राज्यवाद और सामन्तवाद अपना रूप बदलकर हमारे सामने स्थित है लेकिन हमें अपनी परम्परा पर गर्व करना होगा और अपनी निर्बलताओं को उन्हीं के सबक से अब ठीक करना होगा।'

'भारत में क्रान्ति की धुरी किसान वर्ग है। कालेजों में बैठकर पढ़ाने वाले प्रोफेसर या बड़े औद्योगिक नगरों में रहने वाले लोग उसे नहीं समझ सकते। जिनके सामने जब हिन्दुस्तान का सवाल आता है तो कुछ रटी हुई किताबें सामने आती हैं न कि हिन्दुस्तान की करोड़-करोड़ जनता, उनके लिए जनता का मूल्य तीन अक्षरों से अधिक नहीं। आज की परिस्थिति में क्रान्ति की दृढ़ता ही शान्ति का विकास है। भारत में मजदूर वर्ग का नेतृत्व मानने वाले चाहे वे किसी भी स्तर का मुलावा क्यों न दें, यदि वे किसान वर्ग को स्वीकार नहीं करते तो वे वैज्ञानिक विचार धारा के नेतृत्व में विकास के स्थान पर अवकाश प्राप्त करते हैं, और उन लोगों में हैं, जो हिन्दुस्तान में हजारों कैन्टन कम्यून को दुहरा कर समाजवाद की स्थापना को और भी दूर करते चले जाते हैं। ऐसे ही लोगों ने वारंगल और तेलंगाना की आग में दूर बैठ कर हाथ तापे हैं। यह नहीं जानते कि लड़ाई में कभी-कभी अपने खेतों को जलाकर इसलिए पीछे हटना पड़ता है कि दुश्मन के हाथ में दाना न पड़ जाय। बाबर की तोपों पर जान दे देने वाले राजपूतों का जमाना गया। क्रान्ति व्यक्तिगत वीरता का प्रदर्शन मात्र नहीं है। वह आतंकवादी खेल नहीं है कि दूर मजदूर-किसान के बेटों का खून गिरा करे और टुटपुँजिये मध्यवर्गीय अपनी रीढ़ की हड्डियों में दूर बैठ कर सनसनी का मजा लेते रहें। केवल शस्त्र उठा लेकर ही यह जाहिर नहीं करता कि उस लड़ाई को चला ले जाने की ताकत भी साथ में आ गई है। ऐसे ही लोगों ने खिलाफत के लिए होने वाले आंदोलन को पूरी तरह से स्वराज्य का आन्दोलन समझकर जो धोखा उठाया था वही निजाम और नेहरू की फौज में भेद न कर दुहराया गया। कहने का तात्पर्य यह है कि हमें परिस्थितियों को देखकर लचकीले दाँव-पेंच

बनाने होंगे। लेकिन सावधान कहीं कठमुल्लाओं के हाथ में हमारा ध्येय भी लचकें न खाने लगे।"

'किसी भी पार्टी के दस्तावेजों को नारों के रूप में छन्दबद्ध कर देना कविता नहीं है।' हमें अपने आज के साहित्य के बारे में सोचते समय यह हमेशा याद रखना चाहिए कि यह क्रान्ति के पहले का साहित्य है और रूस का आज का साहित्य क्रान्ति के बाद का है। रूस में आज वहाँ के राजनीतिक और सामाजिक जीवन में कोई भेद नहीं रहा है। हमारे यहाँ पार्टियों के दस्तावेज जनता के जीवन नहीं बन जाते वरन् वे उन्हें एक राह दिखाते हैं। जो दस्तावेजों को ही साहित्य बना लेते हैं, वे ही दस्तावेज बदल जाने पर कहा करते हैं कि हमारा अब तक का लिखा हुआ साहित्य व्यर्थ था। जबकि गोर्की और माडोकोवस्की ने अपने साहित्य के बारे में यह शिकायत कभी नहीं की। शोलोखोव से स्वर्गीय कालेनिन ने एक बार कहा था—साहित्यकार इतिहासकार नहीं है, वह कम भले ही लिखे मगर अच्छा लिखे। एंगिल्स ने एक बार कहा था—सर्वश्रेष्ठ ही जनता को दे क्योंकि यह सर्वश्रेष्ठ वर्ग है। लेनिन ने एक बार कहा था—जनता के नाम पर तुकबन्दी को कविता कहने वाले श्रमजीवी वर्ग का अपमान करने वाले हैं क्योंकि उनकी समझ में श्रमजीवी वर्ग भद्दा और कुत्सित है इसलिए उसे कुत्सित और घासलेटी साहित्य की आवश्यकता है। इन लोगों की रचनाएँ पढ़कर वह आनन्द कभी नहीं आता, जो पुराने साहित्यकारों को पढ़कर आता है। इसी तरह मार्क्स ने एक्लिजोला के मुखर जनतान्त्रिक साहित्य से अधिक बालजक को पसन्द किया था, क्योंकि उसका व्यंग किसी भी नारेबाजी से तीक्ष्ण था।

साहित्य का कलात्मक सौन्दर्य शब्दों का आडम्बर नहीं है, चाहे वह छायावादी हो अथवा मार्क्सवादी। साहित्य का सौन्दर्य प्रेरणा, व्यंग और निर्माण में है। जर्जर का ह्रास उसके निर्माण का दूसरा पहलू है। साहित्य में सत्य पर जोर देना चाहिए। अगर हम प्राचीन जाति-प्रथा पर लिखें तो

जाति-प्रथा का विरोध करने के लिए यही ठीक है कि हम यह बताएँ कि वह कितनी जटिल थी। कार्लमार्क्स जैसे पात्र गुप्त साम्राज्य में पैदा करके हम न केवल साहित्य के सौन्दर्य को नष्ट करते हैं वरन् ऐतिहासिक भौतिक-वाद (Historical Meterialism) को विकृत करते हैं। इसीलिए एक दफे लेनिन ने टालस्टाय की 'युद्ध और शांति' (War and Peace) पढ़ते समय गोर्की से कहा था—'इसे पढ़ो और लिखना सीखो'

"हमारी आलोचना पद्धति गुटबन्दी के अनुसार नहीं होनी चाहिए। मार्क्स और एंगिल्स के आधार पर आलोच्य पुस्तक बिना पढ़े हुए भी नहीं होनी चाहिए। किताब में गलती निकालनी है, इसीलिए भी नहीं होनी चाहिए। आलोचना निष्पक्षता से हो, जनता के शत्रुओं को ढूँढ़े और एकता के सूत्रों को पकड़े। लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि कि केवल तारीफ ही की जाय। आलोचक के लिए शिक्षित होने की आवश्यकता है।

"हमें जनता के जीवन की विषमताओं को देखना है। मजदूरों और किसानों की भीड़ में बैठे रहना मात्र जनता से सम्पर्क नहीं है। जनता की दिन ब दिन की कशमकश से जानकारी रखना ही जनता से सच्चा सम्पर्क है। यही हमको प्रेमचन्द में मिलता है। प्रगतिशील लेखक संघ इसे संगठित रूप से कर सकता है।"

तुलसीदास : एक दृष्टिकोण

कहीं पढ़ा कि भारत का सामंतकाल उच्छृंखलता का युग था। उच्छृंखलता का युग वह होता है जब किसी वर्ग के हाथ में शक्ति रहती है, और दूसरा वर्ग उसकी शक्ति को गिराना चाहता है। वर्ग-स्वार्थ दोनों में होता है। पर अधिकारी वर्ग कौन है, उसके स्वार्थ क्या हैं, वे पहले देखने चाहिये। सामंतकाल में एक ओर उच्च जातियाँ थीं, उनका हाथ ठाकुर था, दिमाग ब्राह्मण। उनकी नजर में नीच जातियों का बराबरी के लिये विद्रोह वास्तव में उच्छृंखलता थी। इस विद्रोह के अतिरिक्त सामंतकाल में सब कुछ सुव्यवस्थित था। वर्ग-अधिकार के दृष्टिकोण से, ब्राह्मण समाज के दृष्टिकोण से, उसकी एक अपनी अलग संस्कृति थी, जो जब निम्न जातियों के विद्रोह को दबाकर उठी तो रीतिकाव्य के रूप में प्रस्फुटित हुई। रीतिकाव्य में समाज के अधिकारी वर्ग के सामने कोई समस्या नहीं रही, इसलिये वह स्त्री के साथ विलास और रति में डूब गया।

ठीक इस परिस्थिति के पहले हुए तुलसीदास। और बहुत से लेखक कहते हैं कि तुलसीदास ने संस्कृत के विरुद्ध हिन्दी में लिखकर घोर प्रगति की, पंडितों को उन्होंने चुनौती दी। और इस तर्क को लेकर बड़ा कोलाहल हो रहा है। अंग्रेज कहा करते थे कि अस्पताल और रेल बनाकर हमने भारत का कल्याण कर दिया, वर्ना हमें तो इससे नुकसान ही है। यह सच है कि रेल और अस्पताल बनाकर .अंग्रेजों ने हिन्दुस्तान का बहुत फायदा किया। लेकिन इसमें याद रखने की बात है कि अंग्रेजी पूँजी ने इन दोनों से बेहद फायदा उठाया और उनका राज्य इन बातों के बल पर और जमा,

कुछ दिन उसकी अवधि बढ़ी। इतिहास में यह देखा गया है कि एक वर्ग एक बात को अपने फायदे के लिये करता है, लगता है कि वह दूसरे वर्ग के फायदे के लिये है। पर जब अधिकारी वर्ग की दी हुई वही सहूलियत बाद में शोषित वर्ग के हित की बन जाती है तब अधिकारी वर्ग कोई नई तरकीब सोचता है। अंगरेजों की सरकार ने विलायत में ऐसा ही लचीला कानून बना रखा है। जब उन्हें किसी चीज की जरूरत होती है, तब वैसे ही बदल लेते हैं। हिन्दुस्तान के ब्राह्मणवाद का इतिहास यही बताता है। वैदिक देवता छोड़ कर आर्यों ने अनार्य देवताओं की पूजा शुरू की। जब उससे भी काम नहीं चला तो कृष्ण ने शूद्रों को रियायतें दीं। और आगे चल कर कौटिल्य ने दास प्रथा का प्राय: अंत कर दिया। उसके बाद शंकराचार्य ने बौद्धों के शून्य को ब्रह्म का रूप देकर स्वीकार कर लिया। इसी परम्परा में हुए तुलसीदास। तुलसीदास ने पंडितों के विरोध के बावजूद जन भाषा में रामचरितमानस लिखा। और इसलिये उनको प्रगतिशील माना जा रहा है। क्या यह सत्य अपने आप में पूर्ण है? इसके लिये दो बातें देखनी चाहिये।

१—बुद्ध ने अपने समय में क्रान्ति की और ब्राह्मण परम्परा को भाषा में भी अपनाने से अस्वीकार कर दिया। बहुत दिन बाद सिद्धों और नाथों ने उसी परम्परा को चलाया और जन भाषा में लिखते रहे और कबीर, जायसी आदि में वही धारा फूट कर पलती रही।

२—रामानुजाचार्य ने चमारों को अधिकार दिया, क्या वह भी वही जागरुक स्वार्थपरायण ब्राह्मणवाद था जो लचीलापन दिखा रहा था? क्या वह भी प्रगति न थी?

इन दोनों प्रश्नों के उत्तर यों हैं:—(१) बुद्ध, सिद्ध, नाथ, कबीर, जायसी का विद्रोह ब्राह्मण व्यवस्था के प्रति था। ब्राह्मण व्यवस्था जाति-पाँति को लेकर सामंतीय व्यवस्था का ही दूसरा नाम थी। जब तक व्यवस्था आर्थिक और सामाजिक रूप से नहीं बदल सकी, तब तक वह विद्रोह की

पुकार केवल दार्शनिक रही। तदनंतर खो गई। उसमें जो शक्ति थी वह उसका मानवतावाद था। वह मानवतावाद बहुत सशक्त था। इस मानवतावाद के अतिरिक्त उस समस्त चिंतन में कोई बल नहीं था। अपनी असमर्थता के बावजूद वह उस मानवता के बल पर बहुत दिन पलती रही और उससे डर कर ब्राह्मणों को अपने अधिकारों को लचीला बना कर निम्न जातियों को कुछ अधिकार देने पड़े।

(२) रामानुजाचार्य, श्रीमद्भागवत आदि ने लचीलापन दिखाया और कुछ अधिकार दलित वर्गों को दिये। रामानन्द ने भी ऐसा ही किया। इनके प्रयत्न तत्कालीन ब्राह्मण वर्ग-अधिकारों के विरुद्ध थे और इनमें एक खास बात यह थी कि बावजूद इसके कि भीतर ही भीतर यह ब्राह्मणवाद का नया संगठन करना चाहते थे, इन्होंने वस्तुस्थिति में ब्राह्मणवाद को कमजोर किया, भक्ति की लहर से वेद के विरुद्ध पुरुष को ठेक दिया और ये समाज को आगे बढ़ा ले गये।

क्या तुलसीदास ने उपर्युक्त दो बातों में से कुछ किया? तुलसी ने निम्न वर्गों को अपनी ओर जीतने की चेष्टा की। उन्हें अधिकार दिलाने का प्रयत्न नहीं किया। उन्हें अपनी बात सुनाने की बात तो की, पर उन्हें बन्धन से छुड़ाने का यत्न नहीं किया, वरन् तत्कालीन दस उच्च वर्ग के लोग जो कहते थे, वही लिखा। दूसरे जो लचीलापन तुलसी में है कि संस्कृत की जगह जिस भाषा का प्रयोग उन्होंने किया, उससे केवल रूप (Form) बदला। वस्तुविषय (Content) और भी रूढ़ता से पुनः वही प्रतिष्ठापित किया गया।

जन भाषा में लिखकर तुलसी ने लचीलापन तो दिखाया क्योंकि संस्कृत के फंदे में सब फँसते नहीं थे, तो हिन्दी में लिखा, पर प्रश्न उठता है कि लिखा क्या? उसमें ब्राह्मणों की निंदा की गई? स्त्रियों, शूद्रों से हमदर्दी दिखाई गई? उसमें कबीर का स्वर तो था ही नहीं; उसमें वह भी नहीं था जो रामानुज और रामानन्द और भागवत में था। तुलसी ने भक्ति

की लहर में ब्राह्मणवाद को ढीला नहीं किया, वरन् उसे जटिल किया और निंदा और हमदर्दी का लेखा-जोखा करके कहा कि असल में वेदपथ भूल जाने के कारण यह सब हुआ है। भागवत ने भक्ति-हीनता के कारण ब्राह्मण की निंदा की थी, भक्ति को ऊँचा कहा था। पर तुलसी ने कहा कि भक्ति अच्छी है और वही अच्छी है जो वेद-सम्मत है। सबसे बड़ा भेद तो यही है कि तुलसी ने हिन्दी का प्रयोग जनहित के लिए इतना नहीं किया जितना ब्राह्मणवाद के पुनर्संगठन के लिए।

प्राचीनतावादी ब्राह्मण शक्ति लेकर ऐसे जकड़े रहना चाहते थे कि वे समझौता करने को ही तैयार नहीं थे। तुलसी ने बदले हुए जमाने में उन्हें मूर्ख कहा और जनता तक ब्राह्मणवाद को पहुँचाया।

यहाँ यह याद रखना है कि एक ओर नीच जातियों में संत थे। वे बराबरी के लिये सिर उठा रहे थे। दूसरी ओर उच्चवर्ग के दो रूप थे। एक दरबारी कवि, दूसरे पुराणकार। तुलसी ने जब पुराणकार परम्परा में हिंदी दी, केशव ने कुछ शोक के साथ रीतिकाव्य में दरबारी परम्परा में हिंदी दी। क्या केशव भी प्रगतिवादी थे?

क्या हिंदी लिखना उस समय एक आश्चर्य की बात थी? विद्यापति ने तो और भी पहले कहा था—बालचन्द विज्जावइ भासा,
दुइ नहीं लगाइ दुज्जन हासा।

वह था सहजयान का परवर्त्ती प्रभाव, वैष्णव-भक्ति की लहर, जिसका प्रभाव स्पष्ट था, जो अपने आप में ब्राह्मणवाद की कोई प्रतिष्ठापना नहीं की। वही बाउलों में फली-फूली।

और उससे पहले स्वयंभू, देवसेन, पुष्पदन्त, बब्बर, हेमचन्द्र लिख चुके थे। वही हिंदी की अपनी परम्परा थी। उनके दोहे चौपाई का ही विकसित रूप तुलसी में मिलता है। तब स्पष्ट हुआ कि ब्राह्मण के अतिरिक्त हिंदी में बहुत लोग लिखते थे। तुलसी ने जो ब्राह्मणवाद को हिंदी में धरा वह उसका लचीलापन था, पर धरा क्या? वही जटिल व्यवस्था।

सूर ने भी तो हिंदी में लिखा फिर उन्हें प्रगतिवादी क्यों नहीं कहा जाता ? प्रचार सूर में भी था। सूर ने भक्ति की लहर को माना, वेद को भी पूर्ण महत्ता दी, निर्गुण का विरोध किया। निर्गुण का विरोध उन्होंने किया तो, पर शंकर और पंतजलि के निर्गुण का नहीं किया, नाथ सम्प्रदाय के निर्गुण का खंडन किया। नाथ सम्प्रदाय ब्राह्मणवाद का शत्रु था। सूर ने वही किया, जो अपने क्षेत्र में तुलसी ने किया। यदि तुलसी से पहले हिन्दी में कविता ही न होती, तो माना जा सकता था कि तुलसी ने संस्कृत की जड़ पर कुठार चलाया। पर तुलसी से पहले कबीर ने कहा था—
संसकिरत है कूप जल, भाषा बहता नीर।

तुलसी ने यह नहीं कहा। पुराणकार की परम्परा में वैदिक छोड़ कर, लौकिक संस्कृत के बाद, हिंदी को अपनाया। और तुलसी ने समस्त उच्च-वर्ग को वह शक्ति दी कि संत विद्रोह दब गया। उच्चवर्ग का धर्मपक्ष दृढ़ हो गया। उधर से टक्कर कोई नहीं ले सका। ब्राह्मण व्यवस्था फिर सुदृढ़ हो गई। तब कोई काम न रहा और पुराणकार परम्परा का कार्य पूरा हो गया और फ़ुर्सत से दरबारी परम्परा आगे बढ़ी, रीतिकाव्य फला-फूला।

और भी एक बात महत्वपूर्ण है। क्या तुलसी ने संस्कृत का अपमान करके हिंदी को आसन दिया ? नहीं। उनमें भी वही विक्षोभ है, जो केशव का है कि अब मजबूरी में हिंदी लिखनी पड़ती है। तुलसी संस्कृत को बराबर देवभाषा समझते थे। अगर हम यह देखते कि वह पहले आदमी थे, जिन्होंने संस्कृत के बन्धन को तोड़ा, और चूँकि पहले आदमी थे इस लिये एकदम कोरी पटिया पर लिखना आरम्भ नहीं कर सकते थे, तभी संस्कृत का सहारा लेना पड़ा था; तो हम मानते कि तुलसी ने बड़ी प्रगति की। पर तुलसी ने जहाँ थोड़े से जड़ नियमकार उच्चवर्ग-ब्राह्मणों के विरुद्ध, संस्कृत के विरुद्ध विद्रोह करके समस्त उच्च जातियों का एका किया, थोड़ा सा रूप बदल कर वस्तु विषय में उसी को दृढ़ता दी, वहाँ सन्तों की ऐसी

परम्परायें भी विद्यमान हैं, जिन्होंने रूप और वस्तुविषय को पहले ही उखाड़ दिया था; नये रूप, नये वस्तुविषय की ओर बढ़ रहे थे।

तुलसी में तो बल्कि संस्कृत के प्रति बहुत मोह था। रामचरितमानस में प्रयुक्त श्लोक तथा संस्कृत स्तुतियाँ, विनयपत्रिका में प्रयुक्त संस्कृत की बहुला पदावली इस विषय का प्रमाण है कि तुलसी संस्कृत के द्वारा ही भगवान के निकट अधिक पहुँचते थे। वे उसे देवभाषा मानते थे। उस युग में रीतिकवि केशव और तुलसी के अतिरिक्त किसी कवि में इतनी संस्कृत नहीं है, जितनी इन दो में है।

तुलसी की शिवस्तुति, रामस्तुति, सब संस्कृत में हैं। तुलसी छोड़ कर भी संस्कृत को छोड़ नहीं सके। उन्होंने न सिर्फ नई बोतल में पुराना आसव दिया, वरन् बोतल को जब ढाला तब उसमें भी पच्चीकारी करके पुराने काँच के टुकड़ों को बीच बीच में जड़ दिया।

तुलसी ने राम के वीर रूप में समाज की उस उच्छृंखलता का नाश किया जो ब्राह्मणवाद के विरुद्ध थी। उसका नाश ही वे कलि का नाश कहते थे। अपनी बात को पहुँचाने के लिये उन्होंने कई भाषाओं का प्रयोग किया। ब्राह्मण-स्वार्थ को जिस नये रूप की आवश्यकता थी, वह तुलसी ने दिया और निम्न वर्गों के विद्रोह को दाबकर उच्च वर्गों का सिरदर्द खत्म कर दिया। ६ सौ सालों से जो ब्राह्मण धर्म शास्त्रों की टीका और टीका की व्याख्या करके अपने को इस्लाम और उसके प्रभाव से बचाने का प्रयत्न कर रहे थे, तुलसी ने उन्हें आजाद कर दिया, इतना आजाद कर दिया कि पुराणकार उच्च वर्ग का काम पूरा हो गया, दरबारी उच्चवर्ग विलास में लग गया।

तुलसी ने इस्लाम के विरुद्ध पूरी दीवार खड़ी कर दी। ब्राह्मणवाद को सचेत जाग्रत कर दिया।

समन्वयवाद

महाकवि तुलसीदास के काव्य में समन्वय की भावना बहुत अधिक है।

किन्तु क्या यह समन्वय व्यापक था ? काकभुशुण्डि की कथा इस विषय पर विशेष प्रकाश डालती है।

गरुड़ पूछते हैं—

तुम्हहि न व्यापत काल, अति कराल कारन कवन
मोहि सो कहहु कृपाल, ग्यान प्रभाव कि जोग बल।

काकभुशुण्डि अत्यन्त प्रसन्न होकर बोले—

पन्नगारि अस नीति, श्रुति संमत सज्जन कहहिं,
अति नीचहुँ सन प्रीति, करिअ जानि निज परम हित।

श्रुति संमत सज्जन नीति को वे सुनाने लगे। बार बार इस अण्डकटाह में मैं जन्म ले चुका हूँ। पर मैं कहीं भी अन्त नहीं पा सका, तब मैं भगवान राम को इस जन्म में पा गया हूँ। मुझे अत्यन्त आनन्द है। कोई दुख नहीं है।

तुलसीदास में वेद संमत होना तो सबसे पहली शर्त है।

'निरुपम न उपमा आन राम
समान रामु निगम कहै।
जिमि कोटि सत खद्योत सम
रवि कहत अति लघुता लहै।
एहि भाँति निज निज मतिविलास
मुनीस हरिहिं बखानहीं।
प्रभु भाव गाहक अति कृपाल
सप्रेम सुनि सुख मानहीं।

वेद ने जैसी प्रशंसा की है, महाकवि को वही तो स्वीकृत है। मुनि उस का बखान करते हैं। यह संसार अपार है। इसमें गुरु की महिमा का कोई ठिकाना नहीं है।

गुरु बिन भव निधि तरइ न कोई।
जौ बिरंचि संकर सम होई॥

गुरु सूफियों में था। किन्तु गुरु महिमा भारत में सूफियों से नहीं ली गई। लिंगायतों के पहले पाशुपतों में तथा बज्रयानियों में भी गुरु की बड़ी महिमा थी। नाथ सम्प्रदाय में तो गुरु की महिमा अत्यन्त महत्वपूर्ण थी। उसका प्रभाव कबीर पर भी पड़ा था।

तुलसीदास में भी गुरु को बहुत ऊँचा स्थान दिया गया है। आलवार परम्परा में भी गुरु का बहुत ऊँचा स्थान था। स्वयं रामानुजाचार्य ने तो गुरु-मन्त्र को संसार के लिए स्वयं नरक भोगने को तत्पर होकर सर्व साधारण में प्रचलित कर दिया था।

काकभुशुण्डि ने गरुड़ से कहा कि पहले जन्म की बात बताता हूँ। पहले मैं कौसलपुर में शूद्र बनकर पैदा हुआ। बड़े अभिमान में रहता था। शिव सेवक मात्र था। बाकी देवताओं की निन्दा किया करता था। तब मैं अवध में रह कर भी कुछ नहीं सीख सका। अब मैं समझ गया हूँ। निगमागम ने अवध का जो प्रभाव गाया है वह मेरी समझ में आ गया है। कलिकाल कठिन होता है। उसमें सब नर-नारी पापपरायण हो जाते हैं।

प्रथम जन्म के चरित अब कहउँ सुनहु विहगेस।
सुनि प्रभु पद रति उपजइ जातें मिटहिं कलेस।
पूरुब कल्प एक प्रभु जुग कलिजुग मल मूल।
नर अरु नारि अधर्म रत सकल निगम प्रतिकूल॥

उस निगम विरोधी अवध में :—

तेहिं कलिजुग कोसलपुर जाई
जन्मत भयउ सूद तनु पाई।
सिव सेवक मन क्रम अरु बानी
आन देव निन्दक अभिमानी।
धन मद मत्त परम बाचाला
उग्र बुद्धि उर दम्भ विसाला।

जदपि रहेउं रघुपति रजधानी
तदपि न कछु महिमा तब जानी।
अब जाना मैं अवध प्रभावा
निगमागम पुरान अस गावा।
कवनेहुँ जन्म अवध बस जोई,
राम परायन सो परि होई।
सो कलिकाल कठिन उरगारी
पाप परायन सब नर नारी ॥

उस समय भी भारत में शिव और विष्णु के उपासकों में मतभेद था। सम्प्रदाय भेद की जो असहिष्णुता थी वह इतनी बढ़ी हुई थी कि जब गरुड़ की नाक पर तिलक का पाद खींचकर तैंगलई सम्प्रदाय ने अपनी विजय समझी, वढगलर ने उस समय गरुड़ की नाक ही काट डाली। जब यह हाल रामानुज के दो सम्प्रदायों में था, तब शिव और विष्णु की तो बात ही क्या!
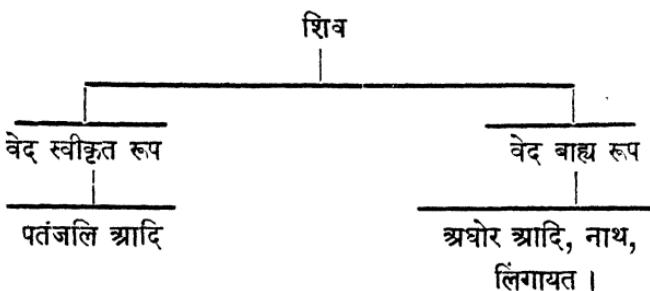
वेद का उपेन्द्र विष्णु जब कालांतर में आभीरों के ग्वाल कृष्ण और पांचरात्र के बासुदेव से मिल गया तब समाज के नियमन भी बदल गए। पहले भृगु जैसे ब्राह्मण ने इसी क्षत्रिय विष्णु के वक्ष पर लात मारी थी, तब तक ब्राह्मण वर्ग ने अपनी शक्ति को खोया नहीं था। किन्तु विष्णु ने भृगु की शक्ति छीन ली। तुलसी के समय तक ब्राह्मण क्षत्रिय की पूजा करने लगे। महाभारत में ब्राह्मण बार-बार अपने लिए क्षत्रियों का सहयोग उचित बताते हैं। कलियुग में क्षत्रिय ब्राह्मणों का पूज्य हो गया है और पूज्य होकर भी वह ब्राह्मण के चरण पर झुकता है। इस प्रकार उच्च वर्ग ने अन्योन्याश्रय खोज लिया है। विष्णु उस क्षत्रिय का प्रतीक है।

किन्तु महादेव प्राचीन आर्येतर देवता था। देवी भगवती अनार्य देवी थीं। आर्यों के आने पर असंख्य देवता शिव के नेतृत्व में समा गये। तभी शिव बहु रूप हैं—बटुक भैरव, लांगूल, महादेव इत्यादि।

देवी के रूप में उमा, भगवती, दुर्गा, हाकिनी, डाकिनी इत्यादि अनेक देवियाँ एक हो गईं।

कालान्तर में वे पति-पत्नी बन गए और फिर उनका परिवार बढ़ा। कुछ उपदेवता उनके गण बने और कुछ वाहन और गणपति नामक अनार्य देवता भी पुत्र बनकर साथ में आ गया। कार्तिकेय सम्प्रदाय भी मिल गया। शिव का परिवार बन गया। तुलसी के समय तक यह कार्य पूर्ण हो चुका था। ब्रह्मा की उपासना बन्द हो चुकी थी। उस समय तुलसी ने वैष्णवों और शैवों को निकट कर दिया।

शिव के उस समय भी दो रूप थे।

शिव के दो प्रकार के उपासक थे। एक वे जो वेद स्वीकृत करते थे। दूसरे वे जो वेद बाह्य थे। किन्तु वेद को मानकर भी शैव विष्णु को नहीं मानते थे। तुलसीदास ने जब शिव कहा है तो पहले शिव वर्ग को लिया है। दूसरे को नहीं।

इस पहले वर्ग को उन्होंने विष्णु भक्तों के बहुत समीप कर दिया। दक्षिण भारत में अब भी शैव और वैष्णव उतने करीब नहीं हैं। वहाँ आयंगरों और अय्यरों में परस्पर ब्याह-शादी नहीं होती। उत्तर भारत में ऐसी कोई अड़चन नहीं है।

तो तुलसी ने शिव भक्त के रूप में वेद संमत शिव भक्त का रूप लिया है। क्योंकि आगे वे अघोर आदि को घृणित कहते हैं।

वेद संमत शैव सम्प्रदाय जाति प्रथा को मानता था। वेद बाह्य शैव सम्प्रदाय कभी भी जाति-पाँति को नहीं मानता था। ब्राह्मणवाद का घोर विरोधी था।

इसीलिए तुलसी कहते हैं कलियुग में—

कलिमल ग्रसे धर्म सब, लुप्त भये सद्ग्रन्थ।
दम्भिन्ह निज मति कल्प करि, प्रगट किये बहु पन्थ॥

अनेक पन्थ दम्भियों ने अपनी अक्ल से सोच कर पैदा कर लिए हैं, क्योंकि कलियुग में सब अच्छे ग्रन्थ लुप्त हो गये हैं।

बरन धर्म नहिं आश्रम चारी,
श्रुति विरोध रत सब नर नारी।

वर्णाश्रम धर्म का विनाश हो रहा है। सब नर नारी वेद का विरोध करने में लगे हुए हैं।

द्विज श्रुति वंचक भूप प्रजासन।

ब्राह्मण भी बिगड़ गए हैं। परन्तु इसलिए कि वे अब वेद को बेचने लगे हैं। अर्थात् प्राचीन काल में ब्राह्मण वेद को बेचते नहीं थे। राजा प्रजा को कष्ट देते हैं। यदि वे यही कहते तो बल इसी पर रहता, पर वे तो आगे तुरन्त कहते हैं—

कोउ नहिं मान निगम अनुसासन।

निगम, वेद का अनुशासन कोई नहीं मानता होता तो यह भी होता कि कुछ आशा रहती। यहाँ किसी ने उस पथ को नहीं पकड़ा। सब अपनी-अपनी करते हैं।

मारग सोइ जाकहुँ जोइ भावा,
पण्डित सोइ जो गाल बजावा।

तभी आगे कहा है—

निराचार जो श्रुति-पथ त्यागी,
कलियुग सोइ ग्यानी सुविरागी।

यह है अज्ञान की रूप-रेखा। श्रुतिपथ को त्यागना। आश्चर्य क्या है? प्रगतिशील लेखकों से कहा जाता है कि वे असहिष्णु हैं, पूंजीपतियों और साम्राज्यवादियों को गाली देते हैं। परन्तु अभी तो तुलसीदास के मुकाबले में किसी ने नहीं लिखा—

जाके प्रिय न राम बैदेही
तजिए ताहि कोटि बैरी सम
यद्यपि परम सनेही॥

यह तुलसी के समन्वयवाद की नींव थी। तभी उन्होंने रामचरितमानस के उत्तर काण्ड में बताया है कि क्या करने से क्या भयानक फल मिलता है। मनुष्य को दादुर और चमगादड़ की योनि मिलती है।

तभी वे आगे कहते हैं—

जाके नख अरु जटा विसाला,
सोइ तापस प्रसिद्ध कलिकाला।

यह है नाथों पर प्रहार। याद रहे कबीर ने भी कहा था—

जटा बढ़ाय जोगी होय गैले बकरा।

पर कबीर ने उनके आडम्बर का विरोध किया था, उसका विरोध नाथों के उस चिन्तन से नहीं था जो समाज में जाति-पाँति का विरोधी था। तुलसी का निशाना तो श्रुति-पथ त्यागी नाथ योगी पर है।

नाथ योगी कहता था—

ना मैं हिन्दू ना मुसलमान।

इसे तुलसी कैसे स्वीकार करते? तुलसी ने इतना ही नहीं, आगे और स्पष्ट लिखा है—

गोरख जगायो जोग, भगति भगायो लोग।

गोरख ने जोग जगाकर भगति को लोगों से हटा दिया और 'निगम नियोग तें' दूर कर दिया। इसे तुलसीदास कैसे क्षमा कर सकते थे। गोरख ने अपने सम्प्रदायों को शुद्ध करते समय उन्हें शाक्त प्रभाव से दूर

किया था, संस्कृत का भी आश्रय लिया था। बौद्धों का विरोध करके वे प्रायः ब्राह्मणवाद के निकट आ गये थे क्योंकि उन्होंने हठयोग को राजयोग से मिला दिया था। किन्तु जाति-पाँति का विरोध वे करते रहे थे। तुलसी ने उसी पक्ष पर प्रहार किया और कहा—

असुभ वेष भूषन धरे, भच्छाभच्छ जे खाहिं।
तेइ जोगी तेइ सिद्ध नर, पूज्य ते कलियुग माँहि॥

शैवों में खान-पान की पुरानी छूट थी। तुलसीदास को वह असह्य था।

सूद्र द्विजहि उपदेसहिं ग्याना,
मेलि जनेऊ लेहिं कुदाना।

तुलसीदास के दृष्टिकोण के इस पक्ष को ध्यान से देखना नितान्त आवश्यक है। जो इस पर ध्यान नहीं देता वह वास्तव में वस्तुस्थिति से मुँह मोड़कर चलता है।

अब वह जमाना आ गया था कि शूद्र ब्राह्मणों से बहस करने लगे थे।

बादहिं सूद्र द्विजन्ह संग, हम तुम्हते कछु घाटि।
जानइ ब्रह्म सो विप्रवर, आँखि देखावहिं डाटि॥

पर तुलसीदास को यह अनुचित लगता था। ब्राह्मण और शूद्र बराबर कैसे हो सकते हैं? एक विद्वान् लेखक लिखते हैं कि तुलसी अपने सामन्ती युग की मर्यादा से बद्ध थे वर्ना वे बड़े प्रगतिशील थे। तो क्या कबीर का कुछ भी प्रभाव नहीं था? कबीर ने तो पूछा था—

जो है तू ब्राह्मन का जाया,
और राह से क्यों नहिं आया?

इस तर्क का कोई जवाब दे सकता था? पर तुलसी इसका जवाब ही नहीं देना चाहते थे। तभी कहा है—

कल्प कल्प भरि एक एक नरका,
परहिं जे दूषहिं श्रुति करि तरका।

एक-एक कल्प तक वे एक एक नरक में पड़े रहेंगे, जो तर्क करके श्रुति की बुराई करते हैं।

जे बरनाधम तेलि कुम्हारा,
स्वपच किरात कोल कलवारा।
नारि मुई गृह सम्पत्ति नासी,
मूँड़ मुड़ाइ होहिं सन्यासी।
ते विप्रन्ह सन आपु पुजावहिं,
उभय लोक निज हाथ नसावहिं।

यह हालत आ गई है कि तेली, कुम्हार और जो चाहे सिर मुड़ाकर बना सन्यासी, आज ब्राह्मणों की भाँति अपनी पूजा करवाने लगा है ?

ऐसा क्यों हुआ ? क्योंकि ब्राह्मण अब गिर गया है—

बिप्र निरच्छर लोलुप कामी,
निराचार सट वृषली स्वामी।

ब्राह्मण पहले कैसा महान् था ? वह गिर गया है। भागवत में भी ब्राह्मण की ऐसी ही शोकयुक्त निन्दा है। पर तुलसी का आक्रोश तो यह है—

सूद्र करहिं जप तप व्रत नाना,
बैठि बरासन कहहिं पुराना।
सब नर कल्पित करहिं अचारा,
जाइ न बरनि अनीति अपारा।

अब तो सूद्र भी नाना जप, तप, व्रत करने लगे हैं। बैटकर पुराण सुनते हैं। सब वही करते हैं, जो जिसके जी में आता है।

और इस प्रकार वे श्रुति सम्मत पथ त्याग कर सुख पाते हैं—

श्रुति संमत हरि भक्ति पथ, संजुत बिरति बिवेक।
तेहिं न चलहिं नर मोह बस, कल्पहिं पंथ अनेक॥

वेद पथ पर नहीं चलते, विभिन्न पथों पर चलते हैं। तुलसी के समन्वय का आधार श्रुति सम्मत पथ है।

नहिं मान पुरान न वेदहि जो,
हरि सेवक संत सही कलि सों।

और इसी कारण मुगल राज्य में—

नृप पाप परायन धर्म नहीं,
करि दंड विडम्ब प्रजा नित ही।
कलि बारहिं बार दुकाल परै,
बिनु अन्न दुखी सब लोग मरैं।

क्योंकि देवता नहीं बरसाते, क्योंकि—

तामस धर्म करहिं नर, जप तप व्रत मखदान।
देव न वरषहिं धरनी, बए न जामहिं धान॥

बोये हुए धान नहीं जमते, उगते—

और पुराणकार तुलसी कहते हैं :—

कृतजुग सब जोगी विग्यानी।
करि हरि ध्यान तरहिं भव तरहीं,
त्रेता विविध जग्य नर करहीं।
प्रभुहिं समर्पि कर्म भव तरहीं।
द्वापर करि रघुपति पद पूजा,
नर भव तरहिं उपाय न दूजा।
कलिजुग केवल हरि-गुन गाहा,
गावत नर पावहिं भव थाहा।

तुलसीदास ने स्पष्ट कर दिया है कि उनका मतलब वेद सम्मत शिव-पूजा से ही है।

तेहिं कलिकाल बरष बहु, बसेउँ अवध बिहगेस।
परेउँ दुकाल विपत्ति बस, तब मैं गयउँ बिदेस॥

गयउँ उजेनी सुनु उरगारी,
दीन मलीन दरिद्र दुखारी।
गएँ काल कछु सम्पत्ति पाई,
तहँ पुनि करउँ संभु सेवकाई।
विप्र एक वैदिक सिव पूजा,
करइ सदा तेहि काज न दूजा।

तुलसी ने वैदिक शिव पूजा का यह स्पष्ट उल्लेख कर दिया है कि कहीं शिव पूजा का अर्थ लोग अवैदिक पूजा में न ले जायें।

यही काकभुशुण्डि इस विप्र की सेवा में लग गया। यह बड़ा विष्णु-द्रोही था। एक दिन गुरु के आने पर भुशुण्डि उठकर खड़ा भी नहीं हुआ। तब शिव ने शाप दिया, यह सोचकर कि न दूँगा तो मेरा 'श्रुति मार्ग नष्ट' हो जायेगा। कहा—

'जौं नहिं दण्ड करौं खल तोरा,
भ्रष्ट होइ श्रुति मारग मोरा।'

और तभी दण्ड की मुक्ति का पथ बताया है ब्राह्मण की सेवा करना—

'हरि तोषन व्रत द्विज सेवकाई।'

जो वज्र और मेरे त्रिशूल से नहीं मरते वे भी—

'विप्र द्रोह पावक सो जरई।'

इतनी पृष्ठभूमि बना लेने पर तुलसी ने सगुण और निर्गुण का समन्वय किया है। वह निर्गुण भी—

'सोहैं ताहिं तोहि नहिं भेदा,
बारि बीच इव गावहिं वेदा।'

के विशेषण युक्त है। लोमश के क्रोध को शूद्र स्नेह से सह जाता है, तब काकभुशुण्डि बनता है। उसकी महानता है कि वह ब्राह्मण का विरोध नहीं करता। फिर लोमश उसे कौआ बनाकर ज्ञान देते हैं।

शंकर का मायावाद तुलसी में रामानुज की लीला बनकर प्रकट है, पर लीला के साथ दार्शनिक पक्ष में जहाँ तुलसी ज्ञान का आधार लेते हैं, वहाँ निस्पृह ब्रह्म की झलक दिखाई देती है। कबीर की शब्दावली में उन्होंने 'सौहमस्मि' को भी स्वीकृत किया है।

इस प्रकार तुलसी में वैष्णव-शैव बैर, राम-कृष्ण बैर, सगुण-निर्गुण बैर सबको मिटाया गया है और तुलसी ने सब को बहुत ऊँचा उठा कर, सबका ही दूसरा रूप राम को प्रमाणित करके, राम को सबसे ही ऊपर उठा दिया है। परस्पर प्रशंसा का यह विचार एक व्यक्ति का नहीं, उस युग की एक विचारधारा का प्रमाण है।

किन्तु तुलसी के लिए श्रुति सम्मत होना पहली शर्त है। वह उसके बिना किसी से भी समझौता करने को तैयार नहीं है। किसी से भी नहीं करते।

'हरि को भजकर हरि का हो जाना' ऐसा भाव है जो तुलसी के अतिरिक्त शंकर में भी था। शंकर ने भी कहा था कि इन्द्र, ब्राह्मण और कुत्ता समान हैं। पर यह निर्गुण के दार्शनिक पक्ष की बात थी, यह सामाजिक पक्ष नहीं था। कबीर, रामानन्द, रामानुज ने जो हरि को भजने का अधिकार दिलाया था उसे तो अब छीन लेना तुलसी की शक्ति के बाहर था, पर वे भी चुप नहीं रहे, उन्होंने शूद्र को बताया कि ब्राह्मण के चरणों पर बैठकर भजन कर—

नाना कर्म धर्म व्रत दाना,
संजम दम जप तप मख नाना।
भूत दया द्विज गुरु सेवकाई,
विद्या विनय विवेक बड़ाई।
जहँ लगि साधन वेद बखानी,
सबकर फल हरिभगति भवानी।

सो रघुनाथ भगति श्रुति गाई,
राम कृपा काहू एक पाई।

और तुलसीदास ने अन्त में सारांश दिया है—

सोइ सर्वग्य गुनी सोइ ग्याता,
सोइ महि मण्डित पण्डित दाता।

× × ×

राम चरन जाकर मन राता।

तथा—

नीति निपुन सोइ परम सयाना,
श्रुति सिद्धान्त नीक तेहि जाना।

और—

द्विज द्रोहिहिं न सुनाइअ कबहूँ,
सुरपति सरिस होइ नृप जबहूँ।

चाहे इन्द्र के समान भी राजा हो, पर द्विज-द्रोही हो, उसे यह कथा कभी न सुनाए। तुलसीदास धर्म के सामने राजा से झुकने को तैयार नहीं थे। कैसा भी राजा हो यदि वह स्वधर्मी नहीं है तो व्यर्थ है। मुगलों के वैभव को इससे बढ़कर क्या चुनौती हो सकती थी?

गुर पद प्रीति नीति रत जोई,
द्विज सेवक अधिकारी तेई।
ताकहँ यह विशेष सुखदायी,
जाहि प्रानप्रिय श्री रघुराई।

× × ×

पुराणकार

रामचरितमानस एक पुराण की शैली पर लिखा गया महाकाव्य है। संस्कृत के पुराणकारों ने यह पद्धति प्रचलित की थी जब कोई बात प्रकट

की जाय तो वह अधिकतर देवी-देवताओं और ऋषि-मुनियों के संवादों द्वारा प्रकट की जाय। परवर्ती काल में शाक्तों ने भी इस पद्धति को अपना लिया, और भी बाद में संवाद-पद्धति, नाथ-योगियों और दत्तात्रेय संप्रदाय वालों में उतरी, फिर कबीर के संप्रदाय में भी प्रकट हुई। नानक तक तो स्पष्ट ही इसके प्रमाण मिलते हैं।

संवाद की परम्परा का आधार था—एक संप्रदाय जब दूसरे संप्रदाय को उत्तर देता था, तो संवाद के रूप में एक से प्रश्न कराकर दूसरे से उसके उत्तर दिला दिये जाते थे। इसलिये गोरख की कबीर से बातचीत हुई। इससे पहले दत्तात्रेय-गणेश, गोरखदत्तात्रेय के संवाद हुए। कबीर के संप्रदाय में योगजीत संवाद प्राप्य हैं। पुराने आदमी, बहुत करके नये संप्रदाय गुरु से हारे हुए दिखाई देते हैं। चौरङ्गीनाथ की प्राणसंगली में तो भगवान् रामचन्द्र भी चौरङ्गीनाथ के गुरु से योग की दीक्षा लेने आते हैं। संवाद का यह ढङ्ग बहुत अच्छा था। कबीर ने जो कुछ कहा, उसका सार उनके मुख से उपस्थित किया गया और अपने संप्रदाय के लाभानुसार अपने गुरु के मुख से उन बातों का खंडन करवा दिया गया। स्पष्ट हो गया कि आपस में भेद क्या है, किस संप्रदायविशेष का अज्ञान कहाँ है? काक-भुशुण्डि और गरुड़ के संवाद इसी परम्परा में हैं। उपदेश के रूप में तुलसीदास ने बहुत कुछ कह दिया है।

किन्तु याज्ञवल्क्य-भारद्वाज संवाद, और शिव-पार्वती संवाद में कवि ने एक व्यापक क्षेत्र को ढँक लिया है। इतनी बड़ी कथा को एक सुगठित रूप देने की यही तो एक पद्धति नहीं थी? इसका मूल रूप प्राचीनकाल की व्यासपीठ से था। व्यासपीठ पर बैठकर प्राचीन कवि जब धर्म-कथाएँ कहते थे, तो अपने साथ ऋषि-मुनियों के नाम जोड़ लिया करते थे। राजा भोज ने दो ब्राह्मणों को इसलिये दण्ड दिया था कि वे अपनी रच-नाओं के साथ पुराने पराशर आदि ऋषियों का नाम जोड़ देते थे और कथा सुनाते समय लोगों से भेंट आदि प्राप्त करते थे।

शाक्त-साहित्य में शिव-पार्वती के संवाद ही हैं। इस परम्परा को हम प्राचीन नहीं मान सकते, क्योंकि शाक्त-प्रभाव से रंगी हुई बौद्ध पुस्तकों में प्रारंभ में कोई संवाद-पद्धति नहीं है। परवर्त्ती काल में वज्र-श्रीतारा आदि के समय तक पहुँचने तक संवाद प्रारंभ हो जाते हैं। इससे प्रकट होता है कि यह संवाद-पद्धति पुराणकार ब्राह्मणों द्वारा प्रचलित की गई है। बाद में इसे अन्य संप्रदायों ने सँभाल लिया।

ब्राह्मण अपने धर्म को संस्कृत के माध्यम से प्रचलित करते थे; पुराण सुनाते थे और अपने धर्म को जन-भाषा में प्रस्तुत करते हुए डरते थे। कुछ इसलिये भी। गुप्तकाल के वैभव और कुषाणकाल की विलासिता ने स्पष्ट ही विलास के चिन्ह इन पुराणों पर छोड़े थे। फिर शाक्त-प्रभाव भी पाशुपत काल में पड़ा ही था। मध्यकाल के मुस्लिम-शासन के युग में उसे ज्यों का त्यों जनता के सामने पेश करते हुए वे डरते थे।

परन्तु संवाद परंपरा अखाड़ों में चली गई थी। योगी, वैरागी, घूमते-फिरते लोग थे। वे कुछ सुनते-रमते हुए घूमते थे। जहाँ बैठते थे वहीं धूनी सुलगती थी। बातों ही में बातें घूमती थीं। ऐसे ही लोगों की संगत में कबीरदास बैठे थे और ऐसी-ऐसी ज्ञान की बातें बिना पढ़े-लिखे ही करते थे।

ऐसे ही समय में तुलसीदास जी ने अपना काव्य लिखा। यह काव्य ही नहीं था; यह एक धर्म-शास्त्र भी था। कहते हैं—तुलसी का, ब्राह्मणों ने संस्कृत के स्थान पर हिन्दी रखने के कारण बहुत विरोध किया। इसका कारण यही था कि तुलसी धर्म को सुलभ बनाकर उनकी जीविका को छीन रहे थे। वे ब्राह्मण अपने लघु स्वार्थ में थे। परन्तु तुलसीदास ब्राह्मणवाद के लिये गहरी नींव खोद रहे थे। तत्कालीन उच्चवर्ग ने प्रारम्भ में जो तुलसी का विरोध किया, वह गलती उन्होंने जल्दी महसूस की। राम-नाम के प्रताप से जूठन बीन कर खाने वाला तुलसीदास, अपने जीवन-काल में ही उन्हीं उच्चवर्गों के कंधों पर डोलने लगा, हाथी पर चढ़ने लगा।

अब ब्राह्मणादि ने देखा कि पहले जो संस्कृत के बंधन थे, उनके कारण जनता संतों की वाणियों में फँसती है, अब पुराणों की बातें ऐसे शुद्ध और नपे तुले ढंग से रखी गई हैं कि कोई भी भय नहीं है और सब बहुत ध्यान से सुनते हैं।

इस्लाम के विरोध की जो एक छाया थी, पुरातन गौरव की स्मृति थी, और शिव-भक्तों और निर्गुण को वेद की कसौटी पर आँक कर जो तुलसी-दास ने अपने साथ ले लिया उसने नाथ संप्रदाय, कबीर संप्रदाय आदि की उस बोली को बिल्कुल दबा दिया जो ब्राह्मणवाद का विरोध करती थी।

द्विज निंदक बहु नरक भोगि करि,
जग जनमइ बायस सरीर धरि।
सुर श्रुति निंदक जे अभिमानी,
रौरव नरक परहिं ते प्रानी।

फिर कहा है—

होहिं उलूक संत निंदा रत,
मोह निसा प्रिय ग्यान भानु गत।

पर यह संत कौन हैं—

संतन्ह के लच्छन सुनु भ्राता,
अगनित श्रुति-पुरान विख्याता।

तुलसी ने धर्मगुरु की भाँति आज्ञायें दी हैं। उत्तर काण्ड में वे कहते हैं—

यह सुभ संभु उमा संवादा
सुख संपादन सम न विषादा।
भव भंजन गंजन संदेहा,
जन रंजन सज्जन प्रिय एहा।

राम उपासक जे जग माहीं,
एहि सम प्रिय तिन्ह के कछु नाहीं।
रघुपति कृपा जथामति गावा,
मैं यह पावन चरित सुहावा।
रघुवंस भूषण चरित यह नर कहहिं सुनहिं जे गावहीं।
कलिमल मनोमल धोइ बिनु श्रम राम धाम सिधावहीं॥
सत पंच चौपाई मनोहर जानि जो नर उर धरैं।
दारुन अविद्या पंच जनित विकार श्री रघुबर हरैं॥

यहाँ तो महाकवि ने अपने पुराणकार के स्वर में फल देना भी आरंभ कर दिया। 'स्वान्तस्तमः शान्तये' अपने अन्तस के तम को शांत करने के लिये 'भाषाबद्धमिदं चकार', भाषाबद्ध कर दिया जो 'मानसम्' रामचरितमानस, वह स्वान्तःसुखाय केवल इसलिये ही था कि वह किसी दरबारी कवि द्वारा नहीं लिखा गया था, वह एक धर्म-गुरु द्वारा लिखा गया था। उस 'स्वान्तः' ने अपने तक ही अपनी भक्ति को नहीं रखा। उसका एक पूरा सामाजिक पक्ष था। उस पक्ष को ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है। तुलसीदास पूर्ण पुराणकार थे—तभी उन्होंने नियम बनाया है।

रामचंद्र के भजन बिनु, जो चह पद निर्वान।
ग्यानवंत अपि सो नर, पसु बिनु पूंछ विषान॥

[illegible]चरितमानस

[illegible]

[illegible]णीय महाकाव्य का नाम ही राम के [illegible] करता है। मानसरोवर

महाकवि तुलसीदास के चिर[illegible] [illegible] हिमालय चरित्र के मानसरोवर में पाठक को अवगाहन [illegible] तुलसी के युग में एक प्रचलित नाम था। लोग जानते थे कि [illegible] के उत्तरस्थ प्रदेश में एक झील है, जो पुरातन काल से ही अत्यन्त पवित्र है, कलियुग में तो किसी तीर्थ से कम नहीं। उस झील में तुलसी ने अपने पाठक को भक्ति की लहरों में निमज्जित कर दिया। तुलसी के ग्रन्थ

का रूप एक काव्य का रूप नहीं, एक पुराण का रूप है। पुराण के रूप में और काव्य के रूप में मूलभेद है। आगम और निगम करके जो ग्रंथ प्रचलित हैं, वे किसी संप्रदाय विशेष के प्रचारक दृष्टिकोण को सामने रख कर लिपिबद्ध किये गये हैं। अतः उनमें प्रश्नोत्तरी का रूप सबसे सहज माना गया है। यह परंपरा पहले संस्कृत में रही। परवर्त्ती काल में दत्तात्रेय, नाथ, कबीर, नानक, पंथों में होती हुई यह तुलसी के काव्य में भी प्रस्फुटित हुई। आज बहुत से जिज्ञासु कहते हैं कि तुलसी के इस पुराणकार रूप को देखना व्यर्थ है। वस्तुतः यह एक संकीर्णतावाद है जो परिस्थिति को पूर्णतया अध्ययनपूर्वक देखने के पहले अपने सिद्धांत बनाकर उस पर सबको फिट करके अपना ही राग अलापना चाहता है! परन्तु इतिहास व्यक्तियों के स्वभावों की कारीगरी नहीं, वह वैज्ञानिक दृष्टिकोण चाहता है। इसीलिये किसी भी कवि का मर्म समझने के लिये उसके उस रूप को अवश्य जान लेना चाहिये, जिसके द्वारा उसने संसार से और उसकी सामाजिक प्रक्रिया से अपना संबंध निर्धारित किया है, क्योंकि यदि वह एक ओर समाज से प्रभावित हुआ है, तो दूसरी ओर उसने समाज को प्रभावित भी किया है। तुलसी ऐसे ही महत्वपूर्ण व्यक्ति हैं, जिन्होंने अपने जीवन के उत्तरांश में ही नहीं, अपनी मृत्यु के [illegible] तक गहरा [illegible] शताब्दियों [illegible] डाला है। इस प्रभाव डालने का कारण जहाँ एक ओर उनकी सुंदर काव्य-शक्ति है, दूसरी ओर उनके काव्य का धार्मिक स्वरूप भी है। तुलसीदास का काव्य एक कवि [illegible] प्रेरणामात्र का फल नहीं, वरन् वह एक गहरे अध्ययन और चिंतन का वह जागरूक स्वरूप है जिसे महाकवि प्रस्तुत करना चाहते थे। तुलसी ने १६वीं शती में अपना काव्य रचा। उस युग में निस्संदेह रामकथा को लेकर लिखना अपना एक ध्येय रखता था। रामायण का ग्रन्थ प्रसिद्ध था और एक नहीं, उस समय अनेक रामायणें थीं। श्रीरामदास गौड़ ने निम्नलिखित रामायणों का उल्लेख किया है—संवृत रामायण, अगस्त्य रामायण, लोमस रामायण,

मञ्जुल रामायण, सौपद्य रामायण, रामायण महामाला, सौहार्द्र रामायण, रामायण मणिरत्न, सौर्य्य रामायण, चांद्र रामायण, मैन्द रामायण, स्वायम्भुव रामायण, सुब्रह्म रामायण, सुवर्चस रामायण, देव रामायण, श्रवण रामायण, दुरन्त रामायण, रामायण चम्पू तथा अध्यात्म रामायण। इनके अतिरिक्त रामायण की कथा १८ हों पुराणों में तथा महाभारत में भी आई है। इन सब रामायणों की कथाओं में थोड़ा-बहुत भेद भी है। एक महत्त्वपूर्ण भेद है कि महाभारत की रामायण कथा में तो सीता का अग्नि-प्रवेश ही नहीं होता जो वाल्मीकि रामायण में होता हुआ दिखाया गया है। तुलसीदास ने इनमें से कितने को पढ़ा होगा यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, परन्तु वे गहरे विद्वान थे यह हमें सदैव स्मरण रखना होगा। इन सब रामायणों के अतिरिक्त स्वयंभूदेव (७९० ई०) ने भी रामायण लिखी थी। यह कवि जैन था। परन्तु नाना पुराण निगमागम सम्मत जो रामायण तुलसीदास ने लिखी है, उसका मूलाधार है—वह लिखता हूँ जो मैंने अपने गुरु से सूकर खेत में सुनी थी। इसका कारण था कि तुलसीदास राम की कथा की शृंखला मात्र में [illegible] ...ना अपना कर्त्तव्य [illegible] थे, वे और गंभीर [illegible] बनाये हुए [illegible] रहस्यों को ढूंढ़ कर उनका हल [illegible] करना चाहते थे। महाकवि रवीन्द्र बहधा [illegible] ...क बीसवीं शती में एक युग व्यापक महाकाव्य लिखना कठिन है। संभवतः तुलसी के युग में भी यही प्रश्न था। एक ओर सूर कृष्ण पर निर्भर थे दूसरी ओर सूफ़ी कवि अपनी कहानियाँ गढ़ते थे। तुलसी को एक युग व्यापी विषय की आवश्यकता थी। उसने सफलता से रामायण को लिया और अमरता की देहली पर गौरव के पुष्पों को चढ़ाकर न केवल उन्होंने अपने देवता को प्रसन्न कर लिया, वरन् अपने पीछे के दर्शनियों का हृदय भी गंध से भर दिया। इस प्रकार राम कथा की एक विराट परम्परा के अंतिम जाज्वल्यमान चरण बनकर तुलसीदास उपस्थित हुए, जिन्होंने रामकथा के अतिरिक्त सामाजिक नियमन और शास्त्र प्रतिपादन, दर्शन विवेचन के लिये प्रश्नोत्तरी का ढाँचा लेकर एक

धर्मपुराण लिखा जिसका काव्य सौंदर्य भी श्रेष्ठ था और जिसका संदेश भी युगानुरूप सा ही दीखता था।

यहाँ तुलसी के काव्य का भेद अन्य रामायणों से समझ लेना अत्यंत आवश्यक है। वाल्मीकि रामायण में नारद ने वाल्मीकि को राम के पूर्णत्व का उपदेश दिया, किंतु वह एक महापुरुष का ही वर्णन था जिसमें सब महान् गुण हों। निस्संदेह यह अंश वाल्मीकि रामायण में क्षेपक है क्योंकि वाल्मीकि के लिये जो श्रेष्ठ विशेषण आये हैं वे वाल्मीकि ने स्वयं अपने लिये नहीं लिखे होंगे। अश्वघोष के समय में भी आख्यानक प्रचलित थे। 'उनमें बहुत झूठ है, अतः उन्हें नहीं सुनना चाहिये,' यह अश्वघोष ने उन आख्यानक काव्यों के विषय में कहा था। चमत्कार रामायण कथा में बढ़ते गये हैं यह हम महाभारत कथा का ऊपर उल्लेख करके प्रकट कर चुके हैं। वाल्मीकि रामायण में चमत्कार भरे पड़े हैं। रामकथा तो बहुत पुरानी है, कब की है, उसकी तिथि तो निश्चित नहीं की जा सकती, [illegible] वह उस बर्बर युग (अर्थात् दासप्रथा वाले युग) की है जो महा- [illegible] भारत से पहले का [illegible] था। उसका [illegible] प्रत्येक आने वाले युग में चमत्कारों से [illegible]ता गया और वाल्मीकि रामायण जो लगभग शुंगकाल की है, [illegible] समय तक रामायण कथा का प्राय: उसमें स्थि[illegible] हो गया। वास्तव में [illegible] संपादन हो चुका था। वाल्मीकि रामायण के इस संपादन [illegible] दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि यह तत्कालीन समाज के प्रकाश में काफी रँगी गई। राम को एक महा[illegible]न् नायक के रूप में उपस्थित किया गया। परन्तु वह मनुष्य ही रहा। याद रहे उस समय तक सामंतवाद के प्रसार ने प्राय: ही वे गण नष्ट कर दिये थे जो दासप्रथा के बल पर रक्तगर्व के सिद्धांत को लेकर अवशिष्ट थे। दास युग के वे एकतंत्र [illegible]ज्य भी महाभारत युद्ध के बाद अपने आप को एकतंत्र के रूप में जीवित रखने में असमर्थ हो गये थे। उस समय उच्च कुलों ने दासप्रथा को कायम रखने के लिये गणों की रचना की थी। वे गण इसलिये नष्ट हो गये—

(१) नदियों का व्यापार बढ़ने से व्यापार का संतुलन बदल गया। वाणिज्य बढ़ा। व्यापारियों को बड़े राज्यों की आवश्यकता हुई। दासप्रथा अब व्यापारी के लिये लाभदायक नहीं थी क्योंकि कच्चा माल इधर से उधर ले जाने की बनिज में गणाधिपति उतना लाभ नहीं दे सकते थे, जितना किसान। इसलिये 'सर्फ' अधिक लाभदायक हुआ अर्थात् किसान।

(२) रक्त गर्व और कुल गर्व सामंत काल में भी रहा अवश्य, और जन्मना ही रहा, परन्तु उसमें विवाहादि की ढील आई और गर्व के कारण एक दूसरी जाति के आवागमन में रोक-टोक नहीं रही।

(३) यात्रा की रक्षा के लिये बड़े राज्यों की आवश्यकता हुई। जैसे-जैसे आवश्यकता बढ़ती गई, साम्राज्य बनते गये।

(४) [illegible] और शूद्र जो दलित थे उन्होंने सिर उठाया। दास जो पहले उत्पादन प्रणाली [illegible] जनता था वह अब [illegible] [illegible]िक दास हुआ, और शूद्र किसान बना। इसको ब्राह्मणों ने बदल[illegible] [illegible]स्थिति में स्वीकार कर लिया और वे फिर से समाज के नियंता बने।

(५) महाभारत युद्ध के बाद बर्बर अर्थात् दास युग के समाज का ढाँचा बदला। पुराना चातुर्वर्ण्य बदला। पहले आर्य ही ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य होते थे तथा शूद्र सब अनार्य थे या अन्य जातियाँ अलग पुकारी जाती थीं जैसे राक्षस, नाग, इत्यादि। अब वही चातुर्वर्ण सामंतीय व्यवस्था के लिये अपने आप बदला। अब सब जातियों का परस्पर मिलन हुआ। सब पुजारी वर्ग ब्राह्मण, योद्धावर्ग क्षत्रिय, व्यापारी वर्ग वैश्य और कमकर वर्ग शूद्र हुआ और चार मुख्य भागों में बँटा समाज अपनी-अपनी वर्गाधीन स्वतंत्रता का उपभोग करता, असंख्य उपजातियों को लिये रहा। यह भी यों हुआ कि सामंतीय समाज भी 'जन्मना' के आधार पर ही था, यद्यपि उसने बाह्य रूप को बदल दिया था।

(६) बर्बर युग के असाम्य पर सामंतकाल एक प्रगति बनकर आया। अब सामंत में ईश्वरत्व का आरोप हुआ और दृढ़ चरित्र नामक का

निर्माण हुआ जिसने अपने पुरुषार्थ के बल पर संसार को सुखी करने का प्रयत्न किया। वह असाधारण व्यक्तित्व का पुरुष हुआ जिसने अपनी स्त्री को प्रजा के लिये त्याग दिया। स्त्री के अधिकार समाज में नहीं थे, उन्हें वह ठीक करने में असमर्थ था, परन्तु वह अपने को समाज का अंग मान कर, ग्रहण के अधिकार की मर्यादा को अक्षुण्ण रखने के लिये बराबर सन्नद्ध रहा। वह अत्याचारी तथा आक्रमणकारी का शत्रु था; वह राम था। वही रामायण का नायक बना।

इन परिस्थितियों में वाल्मीकि रामायण के वर्तमान स्वरूप का संपादन हुआ। बर्बर (दास) युगीन सभ्यता को सामंतीय कलेवर पहना कर उपस्थित किया गया। सामंतकाल के उदय के इस युग में एक ओर शम्बूक को दबाया गया, दूसरी ओर सीता के प्रति करुणा दिखाई गई। [illegible] के प्रति सहृदय आन्दोलन [illegible] [illegible]तः स्त्री और [illegible] [illegible]दास और [illegible] [illegible]त में भी रहा और दूसरी [illegible] धर्म [illegible] [illegible]था न शंबूक के पक्ष का समर्थन बौद्ध पंथों में किया। यह हुई कुछ बाद की बात। सामंतकाल के उदय के साथ समाज में जिस नई स्फूर्ति की अवतारणा हुई, वह वाल्मीकि रामायण ने प्रदान की और घर-घर उसका आदर हुआ, क्योंकि उस काव्य ने सामंतीय समाज के जितने पारिवारिक, राज्य सम्बन्धी तथा सामाजिक सम्बन्ध थे, सबको निरावृत्त रूप से सहज बनाकर निर्धारित किया और लोकोत्तर रंजन की ऐसी भावना भरी जिसने आगे बढ़ने की प्रेरणा दी।

उसके बाद के सब रामायण पंथ पुराणकार ब्राह्मणों के खाने-कमाने के धंधे थे इसलिये उनका आदर नहीं हुआ। स्वयंभू जैन था और उसने काव्यमात्र के ही दृष्टिकोण से रामकथा को प्रस्तुत किया। अपभ्रंश में लिखा। वह ग्रंथ भाषा के परिवर्तित हो जाने पर अपना महत्व खो बैठा क्योंकि अपभ्रंश को संस्कृत (चाहे वह लौकिक ही क्यों न हो) की भाँति आदर प्राप्त नहीं था। उस समय तुलसी ने रामकथा लिखी।

परंतु तुलसी के समय में और वाल्मीकि रामायण के संपादन काल

बहुत बड़ा भेद था। तब सामंतवाद का उदय था, अब सामंतवाद ह्रासोन्मुख था। ह्रास के भी दो रूप थे। एक रूप तो यह था कि समाज सामंतों से अत्यन्त पीड़ित हो चुका था। दूसरे, जो वाल्मीकि रामायण के समय में चातुर्वर्ण्य में ब्राह्मण श्रेष्ठ बनकर बैठा था, वह अब खतरे में था। पहले की व्यवस्था में ब्राह्मण को सर्वोपरि मानते ही समाज का ढाँचा ठीक चल गया था, इस बार की परिस्थिति में ब्राह्मण का दर्जा गिर गया था। वाल्मीकि रामायण में भी ऋषियों की हड्डियाँ दिखाकर राम को उकसाया गया था, परंतु वे ऋषि धर्म प्रचारक थे। अपना साम्राज्य विस्तार करने के क्षत्रियों के साधन थे। अब ब्राह्मण साधन नहीं थे, वे समाज के बोझ थे, जो किसी भी परिस्थिति में अपने जाते हुए अधिकारों को रोकना चाहते थे। ऐसे समय में तुलसीदास ने रामकथा को अपना आधार बनाया। तुलसीदास का विचार था कि रामायण भूल जाने से समाज उच्छृङ्खल हो गया है। वे ठीक थे। सामंतीय व्यवस्था के मूल प्रतिपादक ग्रंथ की अवहेलना (या न समझना) के कारण ही समाज का ढाँचा ढीला पड़ गया है। अतः यदि फिर से रामकथा लिखी जाए, अर्थात् समाज का सामंतीय ढाँचा पेश किया जाए, तो संभव है कलि से रक्षा हो सके और यही सोच कर तुलसी ने अपना महत्वपूर्ण कार्य किया। सामंतीय रचना की कलाकृति को पुनः प्रस्तुत किया गया, किन्तु इतिहास स्थिर नहीं रहता। सामंत काल जितना बदल चुका था, उतना ही इस काव्य में भी भेद आ गया और तुलसी के काव्य में व्यक्ति के पौरुष की महत्ता नहीं आई क्योंकि वह तो सामंतकाल के उदय के समय की सामाजिक प्रगति थी, जो अब नहीं रही थी; वरन् उसके स्थान पर भक्ति के आवरण में श्रद्धा की भेंट माँगी गई और व्यक्ति के स्थान पर ईश्वर को प्रतिष्ठापित किया गया। यों परिवर्तन की सामाजिक पृष्ठभूमि उपस्थित हुई।

यहाँ हमें आचार्य रामचंद्र शुक्ल से अपना मतभेद स्पष्ट दिखाई देता है। वे अपने इतिहास में तथा तुलसीदास नामक ग्रंथ में महाकवि तुलसी

और सूर को एक भयभीत युग में साहस की श्वास फूँकने वाले व्यक्ति कहते हैं। वे भक्ति आंदोलन को निराशा की आशा के रूप में प्रदर्शित करते हैं। सक्रिय हमारा यहाँ सैद्धांतिक विवेचन मेल नहीं खाता। आचार्य शुक्ल ने इतिहास को शुद्ध ब्राह्मण दृष्टिकोण से देखा है और इसीलिये उन्होंने इस्लाम के आगमन को भारतीय [अर्थात् ब्राह्मण] संस्कृति के ऊपर पदाघात मान कर निराशा का प्रसार स्वीकृत कर लिया है। तथ्यों की कमी के कारण ऐसा कह जाना कोई असंभव बात नहीं है। परन्तु यदि सर्वरूपेण देखा जाये तो भक्ति आंदोलन इस्लाम के आगमन के पहले ही चल पड़ा था और भक्ति आंदोलन के प्रतिपक्षी और पक्षी इस्लाम और हिंदू उस समय नहीं थे, उस समय थे—निम्न 'जातियाँ और ब्राह्मण तथा उच्च जातियाँ। दक्षिण के अडयार और आलवारों से प्रारम्भ हुआ भक्ति का प्रवाह, पाशुपतों में संबल पाता रहा, फिर भागवत संप्रदाय बन कर वैष्णवों में पल्लवित हुआ और उसका शैव समानांतर लिंगायतों में प्रकट हुआ। पूर्व में सहजयान भक्ति के रूप में बदल गया। समस्त भक्ति संप्रदाय उच्च-वर्गों के अधिकारों के विरुद्ध था, जाति प्रथा के विरुद्ध था। अपने युग की परिस्थितियों के कारण वह समाज में आमूल परिवर्तन नहीं कर सका था। परन्तु उसने संस्कृत भाषा को उखाड़ा। कबीर ने संस्कृत पर हमला किया। परन्तु वे समस्त आंदोलन व्यक्तिपरक थे। समाज के उत्पादन क्षेत्र पर उनका असर गहरा नहीं हो सका। वे केवल थोड़ी सी रियायतें दिलवा सकने में समर्थ थे। उस समय हिंदू और मुसलमान दो खेमों में बँटे हुए नहीं थे। युद्ध होते थे; परन्तु जो उन्हें 'राष्ट्रीयता' का रूप देकर मन को भुलाने का प्रयत्न करते हैं, वे इतिहास का विवेचन ठीक से नहीं करते। इस युग में राष्ट्र का अर्थ 'एक राजा का राज्य' समझा जाता था, वह कोई 'सांस्कृतिक इकाई वाला प्रदेश' नहीं समझा जाता था। वीर गाथाकाल के जो कवि या चारण हिंदू और मुसलमान राजाओं का वर्णन करते हुए अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा करते थे, वे उसी तन्मयता से अपने आश्रयदाता

की उस कीर्त्ति-गाथा को भी गाते थे जिसमें एक हिंदू दूसरे हिंदू सामंत को हराता था। कबीर ने हिंदू मुसलमान दोनों पर आक्रमण किया। योगी अपने को अलग कहते ही थे। तुलसीदास ने आकर देश की परिस्थिति को यों समझा—मुस्लिम शासक भारत पर छाये हैं। सारे हिन्दू सामंतों ने सिर झुका दिया है। वर्णाश्रम धर्म लुप्त हो रहा है। ब्राह्मण के अधिकार क्षीण हो रहे हैं। प्रजा पीड़ित है। किसान को खेती नहीं है। यह सब क्या है ? शास्त्र और पुराण इसे ही कलियुग कहते हैं। यह कलियुग कैसे समाप्त हो सकता है ? यदि कोई अच्छा शासक हो। वह कैसे मिले ? जातीय उत्थान करके, वर्णाश्रम धर्म को फिर से स्थापित करने से ही वह संभव हो सकता है। परन्तु इस समय इतने पंथ हैं कि जनता भरमाई हुई है। अतः समस्या की सुलझन कहाँ है ? एक ओर ज्ञान मार्गी हैं, दूसरी ओर भक्ति मार्गी, ठीक है। भक्ति और ज्ञान का समन्वय आवश्यक है। परन्तु जो ज्ञान मार्ग, या जो भक्ति मार्ग वेदमयी को नहीं स्वीकार करता, वह त्याज्य है। इसी बात का अत्युग्ररूप था—जाके प्रिय न रामवैदेही, तजिये ताहि कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही। तुलसीदास ने इस्लाम के विरोध में स्वर उठाया और वर्णाश्रम धर्म को फिर से स्थापित कर भीतरी शत्रुवाद [पंथवाद] का नाश किया। यह तुलसीदास का ऐतिहासिक कार्य था। भक्ति संप्रदाय की विराट नदी सिमट गई। इसके बाद उच्चवर्गों को संतोष मिल गया। परन्तु यहाँ प्रश्न उठता है कि निम्न वर्गों ने तुलसी को इतना महत्त्व क्यों दिया ? इसलिये कि तुलसी ने अपने रामचरितमानस के उत्तर काण्ड में जिस आदर्श सामंतीय राज्य की कल्पना की वह इस्लामी शासकों और उनके छुटभैये हिंदू सामंतों की लूट के सामने स्वर्ग सी दिखाई देती थी। तुलसीदास जी के नये दृष्टिकोण के बाद ही भारत में कमकर अर्थात् मेहनतकश लोगों ने सिख, मराठा, जाट इत्यादि के रूप में विशाल मुगल साम्राज्य के विरुद्ध सिर उठाया जो कि हिंदू सामंतों के कंधों पर टिका हुआ था। शिवाजी ने जो जयसिंह को पत्र लिखा था उससे

यह स्पष्ट प्रकट होता है कि तब तक शिवाजी समझ चुके थे कि मुगलों का अत्याचार हिंदू सहाय्य के कारण ही है। यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि शिवाजी का जनवाद सामंतीय जनवाद था, आधुनिक नहीं। वह उनके युग की बंदिश थी। तुलसीदास ने उच्च जातियों के धर्मशास्त्रियों को पूर्णतया स्वतंत्र कर दिया क्योंकि जो उन्होंने प्रचार किया वह इतना अधिक समर्थ था कि फिर उच्चवर्गों को भीतरी (निम्न जातियों के) वर्णाश्रम-विरोधी आंदोलनों का डर जाता रहा। वे रीतिकाल अर्थात् विलासवाद में डूब गये। तुलसी में यह बातें मुख्य थीं :

१. उन्होंने रामचरितमानस ब्राह्मणों के विरोध के बावजूद भाषा में लिखा और जनवाद को सहायता दी। परन्तु उन्होंने संस्कृत को भाषा में अधिक भरा।

२. उन्हांने दासभाव से भक्ति को अपनाया और उच्छृंखलता का नाश किया।

३. उच्छृंखल सामंतों और विदेशी म्लेच्छ यवनों का विरोध करके एक आदर्श सामंत का रूप रखा जो न्याय करने वाला था। उन्होंने कालिदास के रघुवंश के सामंत को ठीक माना जो सूर्य की तरह [कर लेकर] जल शोषण करे, परन्तु फिर बादल बन कर [रक्षा आदि] बरस कर प्रजा को लाभ पहुँचाये। इससे तात्कालिक शोषण में ग्रस्त जनता, बल पा सकी।

४. तुलसी ने वर्णाश्रम का प्रचार किया। ज्ञान और भक्ति का समन्वय किया। वेद विरोधी संप्रदायों पर गहरी चोट की। समाज में जो निम्नवर्गों का आंदोलन ब्राह्मण सर्वाधिकार के विरुद्ध चल रहा था, उसे गहरी चोट दी, बल्कि वह आंदोलन ही नष्ट कर दिया और समस्त वेदानुयायियों को एक करके इस्लामी संस्कृति के विरुद्ध खड़ा कर दिया। अपनी समस्त रचनाओं में कहीं भी तुलसी ने मुसलमानों के प्रति एक भी सुदर वचन नहीं कहा। केवट इत्यादि के रूप में तुलसी ने जो निम्न जातियों का महत्त्व बढ़ाया वह इसलिये कि वे राम के प्रति 'वफ़ादार' थे।

५. राक्षस जैसे शत्रुओं में एक विभीषण था जिसके व्यक्तित्व को तुलसी ने बहुत उठा दिया। वाल्मीकि रामायण में विभीषण एक राजनीतिज्ञ के रूप में है, वह न्याय देख कर राम की ओर आता है, परंतु तुलसीदास के मानस में विभीषण एक भक्त है, भक्ति के कारण वह राम का उपासक है।

अनेक अन्य बातें हैं जिनमें जैसे-जैसे घुसा जायेगा, नये-नये तथ्य प्राप्त होंगे। हम संक्षेप में तुलसी के दो पक्ष पाते हैं :

१. जनवाद २. प्रतिक्रियावाद।

जनवाद में उनको ऊपर बताये १. ३. के सहारे खड़ा किया जाता है। २. ४. ५. उनके दूसरे स्वरूप को प्रगट करते हैं। यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि जिसे हम आज जनवाद या प्रतिक्रिया कहते हैं, वे तुलसी के युग में दूसरे रूप में थे।

सामंतीय व्यवस्था में ब्राह्मणों के अत्याचारों से दबी प्रजा ने भक्ति आंदोलन चलाया था। तब विरोधी ब्राह्मणवाद और अब्राह्मणवाद थे। तुलसी के समय में परिस्थिति बदल चुकी थी। सब को इस्लाम के सर्वोपरि शासन ने दबा लिया था। इसीलिये तुलसीदास ने दो काम किये :

१. भारतीय संस्कृति को उठाया। यहाँ भारतीय का अर्थ ब्राह्मणवादी संस्कृति से है। इस्लाम के विरुद्ध मोर्चा खड़ा किया।

२. अंदरूनी द्वेष मिलाये। वर्णाश्रम स्थापित किया। और प्रजा में सामंतीय ढांचा प्रतिस्थापित किया।

बहुधा लेखक कहते हैं कि तुलसी ने जनभाषा में लिखकर पंडितों की धरोहर को नष्ट किया और यह एक बड़ा विद्रोह था। और वे यह भी कहते हैं कि तुलसी पहले बहुत दरिद्र थे। वे जनता के पीड़ित व्यक्ति थे, उन की जाति-पाँति का भी पता नहीं था, परन्तु दोनों बातें लचर हैं। हम यह जानते हैं कि रामानुजाचार्य की भक्ति परम्परा में मुसलमान शाहजादी के लिये श्रीरंगम के भगवान् रंगनाथ उठा कर मैलकोटै ले जाये गये थे क्योंकि शाहजादी दर्शनार्थ आकर राह में ही मर गई थी, अतः भगवान्

को भक्त के पास ले जाया गया था और रामानुज ने ही चमारों को तिरू-नारायणपुरम के मंदिर में घुसा दिया था। रामानंद ने इसी परंपरा में कबीर को चेला बनाया था। भागवत सम्प्रदाय का आधार ही रियायतें देना था। तुलसी में उसको पूर्णरूपेण छोड़ देने की शक्ति नहीं थी। वे जानते थे कि हूबहू ब्राह्मणवाद अब पुरानी तरह से लागू नहीं किया जा सकता। युग ने जो सिर उठाया था, क्या तुलसी उसे झुका सकते थे ? भक्ति संप्रदाय का मूल मानवतावाद था। भक्त तो ईश्वर से बढ़े हुए थे। तुलसी ने दासत्व सिखाया, भगवान् को राजा बनाया। परन्तु उन्होंने भी भक्त को राम से बड़ा बताया है। इसका कारण है कि तुलसी ने राम की भक्ति में राम का पूर्ण रूप नियोजित किया है और जो राम को मान लेता है, उसे सबसे ऊपर मान लेने में तुलसी को आपत्ति ही क्या रह सकती है। इसी परंपरा में भाषा भी है। भाषा तो प्रचलित थी ही। केवल ब्राह्मण वर्ग अपने संकोचों में बद्ध था। इस्लाम के विरुद्ध ब्राह्मणों को नेता बनाकर समस्त प्रजा का संगठन करने के लिए ब्राह्मणवाद को नये रूप की आवश्यकता थी। अतः उन्होंने हिन्दी को लिया। कट्टर लोगों ने प्रारंभ में विरोध किया, परंतु उनके जीवन के अन्तिम काल में ही ब्राह्मणों ने उनके सामने सिर झुका दिया और स्वीकार किया कि तुलसी ने धर्म के उद्धार के लिये ही भाषा को अपनाया था। ब्राह्मणों की संकुचित सीमा को तोड़ कर ही तुलसी ने ब्राह्मण संस्कृति को सशक्त बनाया। इसलिये तुलसी ने केवल भाषा के तद्भव रूप को ही नहीं लिया, उसमें उन्होंने तत्सम शब्दों को बहुत घुसेड़ा।

तुलसी ने क्या किया यह यदि जानने की आवश्यकता हो तो कुछ मुसलमानों की महफिल में जाइये। क्या मुसलमान सम्प्रदायों को कबीर, रैदास आदि से कहीं विरोध है या उनकी भाषा से ही ? तुलसी में वह पक्ष देखते हैं ? पहली बात तो साफ हुई। रहा उनका दारिद्रय तो संसार में अनेक दलित लोगों ने उच्चवर्गों के स्वार्थ की ही बात की है। तुलसी जो

दारिद्रय से पीड़ित लोगों के प्रति रोते थे, वे इसलिये कि वे उसे वर्णाश्रम धर्म के लोप से आये हुए कलि के शासन के रूप में लेते थे और यही उनकी सदैव प्रार्थना रही है।

अभी हाल ही में हिंदी के एक आलोचक महोदय ने लिखा है कि गंगा-यमुना से सींची हिंदी इलाके की धरती में कवियों और सुधारकों की कभी कमी न रही। ऋग्वेद के कवि ऋषियों से लेकर 'प्रसाद' और 'निराला' तक हमारी जाति की गौरवमयी काव्य परंपरा रही है।' (जनयुग २४. ८. ५२) वे नहीं जानते कि गंगा यमुना के प्रदेश में ऋग्वेद के कवि बहुत बाद में आये थे और उस गौरव में आर्य दंग ही था जिसने वर्ण-व्यवस्था का मूलस्वर उठाया था। वह गौरव सब का नहीं था। तुलसीदास को लेखक महोदय ने ऐसे स्थान पर रखा है, तुलसी की प्रशंसा करते हुए।

तुलसी से पहले भी जनभाषा खूब समृद्ध थी। तुलसी ने केवल ब्राह्मण धर्म को जनभाषा में लिखा था और इसलिए वे खूब संस्कृत भी भर लाये थे।

अब तुलसीदास के विषय में रामचरितमानस में कुछ तथ्य देखना और आवश्यक है।

(१) उन्होंने परशुराम-क्रोध-दलन दिखाकर [illegible] की।

(२) ब्रह्मचर्य दंभी नारद को गिराया।

इनके सहज उत्तर हैं—

(१) उन्होंने सहिष्णु ब्राह्मणवाद का विरोध किया जो क्षत्रियों से मिल कर चातुर्वर्ण्य स्थापित नहीं करता था।

(२) उन्होंने नारद के ब्रह्मचर्य में अब्राह्मण[illegible] [illegible] पर प्रहार किया, जो भक्ति के नाम पर राम के सामने सिर [illegible] झुकाते थे। याद रहे राम को अगम अतीत कह कर भी तुलसी ने [illegible] वाले कृष्ण को सिर नहीं झुकाया था। उन्हें आदर्श सामंत के हाथ में धनुष [illegible] चाहिये थे। यहाँ तुलसी का भागवत के भक्ति सम्प्रदाय से भेद था।

भागवत का भक्ति सम्प्रदाय दक्षिण में बना था जो समाज में प्रेम चाहता था, रियायतें देना चाहता था। कृष्ण का लोकरंजनकारी स्वरूप उसमें लीलाओं से दब गया था। तुलसी ने लीला से ऊपर कर्त्तव्य रखा और अपने युग की बदली हुई परिस्थिति में नया तथ्य प्रतिपादित किया।

'जनयुग' में पृ० ७. २४-८-५२ में उसी लेखक ने कहा है कि 'ढोल गँवार' वाली चौपाई क्षेपक है। वह मानस में नहीं है। यद्यपि ऐसा सोचने का उन्होंने कोई आधार नहीं दिया, वे इस बात को बहुत ठीक समझते हैं। सोचना यह है कि तुलसी ने यह भी लिखा कि नहीं :

विप्र चरन सेवक नरनारी,

× × ×

पूजिय विप्र सील-गुनहीना।
अवधपुरी बासिन्ह कर, सुख संपदा समाज।
सहस शेष नहिं कहि सकहिं, जहँ नृप राम विराज॥

अर्थात् राम राज्य की प्रशंसा की गई है।

× × ×

मातु पिता गुरु विप्र न मानहिं,
आपु गए अरु घालहिं आनहिं।

× × ×

अवगुन सिंधु मंदमति कामी, वेद विदूषक परधन स्वामी।
विप्र द्रोह पर द्रोह विसेषा, दंभ कपट जियँ धरें सुवेषा।

फिर वे भागवत संप्रदाय की सहिष्णुता में कहते हैं—

परहित सरिस धर्म नहीं भाई, पर पीड़ा सम नहिं अधमाई।

परंतु यहाँ भी निर्णय वेद का ही है—

निर्णय सकल पुरान वेदकर।

राम पुरवासी, ब्राह्मण और गुरु को बुलाकर कहते हैं—

नहिं अनीति नहिं कछु प्रभुताई,
सुनहु करहु जो तुम्हहिं सोहाई।

परंतु साथ ही यह भी कहते हैं :

सोइ सेवक प्रियतम मम सोई,
मम अनुसासन मानै जोई।

इनसे प्रगट होता है कि हर रियायत की वास्तविकता क्या थी।

रामचरितमानस में तुलसी के दो रूप हैं। वे भक्ति पक्ष में अपने युग के मानवतावाद से प्रभावित रहे हैं, परन्तु शास्त्रों की मर्यादा को उन्होंने साथ-साथ ही स्थापित किया है। कलि का विरोध करके भी वे विरोध करते-करते घबरा गये हैं। उस स्थान पर उन्होंने भक्ति को माना है क्योंकि भक्ति में तर्क नहीं आते, ज्यों का त्यों सब स्वीकार कर लिया जाता है। वेद-पुराणों के जिन आदेशों के विरुद्ध नीच जातियों ने ईश्वर को अपना कहकर 'भक्ति' को चलाया, उसी भक्ति के इस स्वरूप को तुलसी ने भी लिया क्योंकि इसमें तर्क नहीं थे, परन्तु तर्कहीनता पर उसको लादा जिसका समस्त नीच जाति संतों ने विरोध किया था—अर्थात् वेद, शास्त्र और पुराण को।

उस समय तुलसी ने रामचरित गा कर सामंतों को भी शिक्षा दी। हिंदू-मुसलमान शासक मातृहत्या और पितृहत्या में रंगे हुए थे। तुलसी ने आदर्श सामंत परिवार की सृष्टि की। कैकेई जो वाल्मीकि में राज्य-लोभ-ग्रस्ता है, उसे भी तुलसी ने अंत में भक्त बनाया है, क्योंकि कैकेई की गलती को तो उन्होंने भगवान् की लीला के अंतर्गत रख दिया है। इस जरा सी बात के पीछे एक बहुत बड़ा तथ्य है। बर्बर [दास] युगीन समाज से छूट मिली थी तो सामंतीय समाज ने कई जातियों को भीतर ग्रस कर आत्मसात कर लिया था। धर्मशास्त्र जाति प्रथा को जटिल बनाते जा रहे थे। तुलसी ने वह काम पूरा किया और बीच की गलती को भगवान

की लीला कह कर प्रचारित किया। इस जाति जटिलता के दो कारण थे। एक तो इस्लामानुयायी जातियों ने भारत का समुद्र व्यापार छीन लिया, दूसरे यहाँ के धर्मों पर प्रभाव डालना शुरू किया।

रामचरितमानस में भी लोकरंजन और कर्त्तव्य पथ की इति उसी व्यक्तिपरक मोक्ष की भावना में हुई जो युग में प्रचलित थी। वास्तविकता यह थी कि धरती पर सब ठीक होते ही तुलसी ने दर्शन के क्षेत्र में उसी 'परवाद' को स्वीकार किया। रामानुज की लीला को भक्ति बना कर लिया गया और माया का विरोध करके भी उसकी सत्ता स्वीकार की, जब कि रामानुज माया को लीला का ही दूसरा स्वरूप माना गया। जो तुलसी को विशिष्टाद्वैत मत का अनुयायी मानते हैं, उन्हें यह समझना आवश्यक है।

हमने संक्षेप में तुलसी का युग, पूर्ववर्त्ती विचारधारा और विशेषताओं को देखा। यहाँ हम उनके काव्य के रूप और काव्य पर विचार करेंगे।

तुलसी ने चौपाई और दोहे को लिया। चौपाई और दोहा लिखने की भाषा में पुरानी परंपरा थी। पहले चौपाई का दीर्घांत होना आवश्यक नहीं था। स्वयंभू से तुलसी तक इतना विकास हो गया कि चौपाई ने अपना स्वरूप स्थिर कर लिया। चौपाई छोटी होती है, झट जीभ पर चढ़ती है। महाकाव्य के लिये छोटे छंद का होना बहुत आवश्यक होता है। तुलसी ने उसी छंद को चुना।

तुलसी को मानव-स्वभाव का बहुत गहरा ज्ञान था। इसलिये वे बहुत ही सफल कथाकार हुए हैं। तुलसी में आश्चर्यजनक गुण था कि वे वस्तु को अपना बना कर आत्मसात कर लेते थे। उन्होंने श्रीमद्भागवत के वर्षा वर्णन को प्रायः ज्यों का त्यों—दामिनि दमक रही घन माँही, खल की प्रीति यथा थिर नाहीं, वाले प्रसंग में उतार लिया है, परन्तु वह ऐसे सहज किया है कि पूरी की पूरी नकल होने पर भी तुलसी की प्रशंसा करने की इच्छा होती है, उन्हें नकलची कहने की नहीं। तुलसी ने जनजीवन की जगह-जगह झाँकी दी है जो अत्यंत सफल है। मजाक और व्यंग्य

के तो वे गुरू थे। निस्संदेह बुद्ध के बाद सिवाय तुलसी के कोई इतना प्रभावशाली नहीं हुआ जो समस्त उत्तर भारत को अपनी वाणी से गुँजा देता। सारांश में हम कह सकते हैं :

१. तुलसी ने जन भाषा का प्रयोग करके पुराने असहिष्णु ब्राह्मणवाद को हराया।

२. तुलसी ने जन भाषा का प्रयोग करके नये ब्राह्मणवाद को प्रतिस्थापित किया।

३. तुलसी ने भक्ति संप्रदाय की सहिष्णुता को अपनाया और तर्क का विरोध करके मानवतावाद के साथ एक विरोधी वस्तु—वेदमर्या को भी स्थापित किया, परन्तु यह यों संभव हुआ कि तुलसी ने सामंतवाद की सर्वोपरि अवस्था को ही इस्लाम के विरुद्ध लोकरंजनकारी शक्ति के रूप में खड़ा किया और तर्क को तिलांजलि दी।

४. तुलसी ने वर्णाश्रम धर्म को स्थापित करने के लिये रामचरितमानस लिखा, परन्तु वह युग के लिये सत्य था। इस्लाम के नाम पर शासन करने वालों और हिंदू सामंतों का संगठन प्रजा को उत्पीड़ित कर रहा था। तुलसी ने हिंदू सामंतों को और प्रजा को एक होकर इस्लामी शासकों के विरुद्ध उठने का नारा दिया। यही सिखों, जाटों, मराठों में प्रतिफलित हुआ, नेशनैलिटीज का भी विकास हुआ।

५. संत कवि जाति-प्रथा के विरोधी थे, वे दरिद्र-धनी के चक्कर में नहीं थे। उनका दृष्टिकोण ठीक था। क्योंकि दरिद्र नीच्च जाति थे, धनी उच्च जाति। अतः वे जाति संघर्ष के रूप में ही वस्तु को लेते थे। तुलसी ने जाति के वर्ग रूप को बुला कर वही व्यवस्था स्थापित रखनी चाही। स्पष्ट ही तुलसी का मुख्य काम नम्बर ४ था और वे उसमें सफल भी हुए।

अन्त में एक बात पर विचार कर लेना और ठीक है। 'तुलसी दरबारी कवि नहीं थे, संत थे और उन्होंने 'स्वांतःसुखाय' लिखकर अपने जनवाद का परिचय दिया।' यह बहुत से लोग कहते हैं। यहाँ यह जानना

चाहिये कि स्वांतःसुखाय से अर्थ सिर्फ निम्नलिखित था : किसी राजा के कहने से नहीं, अपने सुख के लिये लिखता हूँ। अपना सुख क्या है ? यह तो हम ऊपर देख चुके हैं। तत्कालीन कवि धन के लिये राजाओं के चाटुकार और विलासी थे। तुलसी सुधारक थे और संसारत्यागी थे। वे तो एक धर्मगुरु थे। उन्होंने काव्य लिखा—धर्मपुराण के रूप में, धर्मगुरु बनकर। अतः वे जनवादी परंपरायें नहीं आतीं जिनमें कबीर थे, परन्तु वे पुराणकार परंपरा में आते हैं।

उपर्युक्त वैज्ञानिक विवेचन तुलसी का निरादर नहीं है। वह सत्य है यदि हम कहते हैं कि कबीर ने मनुष्यता का पाठ पढ़ाया परन्तु वे 'शून्य' की खोज में रहते थे, तो हम उनका अपमान नहीं करते, वरन् वैज्ञानिक विश्लेषण करते हैं। तुलसीदास प्रसिद्ध हैं, महान् हैं, कवि हैं, अतः उनका गलत विवेचन करके प्रगतिवादियों में नाम लिखाना हमारा कर्त्तव्य नहीं है। अधकचरे मार्क्सवादी उनको काफी विकृत कर रहे हैं। पाठकों को चाहिये कि साफ-साफ बात देखें। तुलसी ने इस्लामी शासकों का विरोध करके, कुछ बुरा नहीं किया। वे सबसे बड़े शोषक थे। हाँ तुलसी ने वर्णाश्रम धर्म को जो प्रतिस्थापित किया इसका कारण वे यही समझते थे कि इसीसे समाज ठीक हो सकता है।

तुलसी को जनवादी साबित करके ही क्या उनकी महत्ता प्रकट होती है ? विद्यापति, चंद में कौन सी जनवादिता थी। यह बात का बतंगड़ ही व्यर्थ है। इतिहास को अपने दृष्टिकोण के लिये विकृत करना ही नहीं चाहिए। आचार्य शुक्ल ने भक्ति को जो निराशा की आशा मानकर गलती की थी कुछ आलोचकों ने उसीमें से तुलसी का जनवाद ढूंढ निकाला जिसकी हाँ में हाँ मिलाना आजकल के अवसरवादी तथाकथित या मार्क्स-वादियों का ध्येय हो गया है, हमें उसके प्रति सदा सचेत रहना है क्योंकि उसके बिना हम कभी तुलसी की वास्तविक महानता को नहीं समझ सकेंगे।

———

भाषा का प्रश्न

आज भी भाषा की समस्या उतनी ही विकट है जितनी वह आज से दस वर्ष पहले थी। अब भी इस विषय पर विद्वानों की अलग-अलग रायें हैं। हिन्दी को सरकारी तौर पर राष्ट्र-भाषा स्वीकार कर लिया गया है। हिन्दी का मान कुछ बढ़ा भी है, परन्तु अभी तक भाषा के रूप में हिन्दी को वह जगह नहीं मिली जो यूरोप के देशों की भाषाओं को अपने-अपने देश में प्राप्त है। अंगरेज़ी का भारत में अब भी बोलबाला है। दक्षिण भारत के लिये जो हिन्दी स्वीकार की गई है उसमें गिनती अभी भी अंगरेजी अंकों में लिखी जाती है। एक ओर हैदराबाद में फारसी और अरबी के आधार पर कोष बनाये गये हैं। दूसरी ओर श्री रघुवीर ने बड़े कठिन संस्कृत के शब्द गढ़े हैं। तीसरी ओर श्री सुन्दरलाल हिन्दुस्तानी का प्रचार कर रहे हैं। दक्षिण भारत राष्ट्रभाषा के नाम पर, हिन्दी को हिन्दुस्तानी कहने लगा है। राहुल सांकृत्यायन हिन्दी ही चाहते हैं, मार्क्सवादी लेखक 'जनता की हिन्दी' पसंद करते हैं। इस तूफान में हिन्दी और उर्दू का भी झगड़ा बरकरार है। देख कर लगता है कि हिन्दुस्तानी के लिये भाषा की समस्या सबसे बड़ी समस्या है। कुछ लोग इस सबसे चिढ़ कर कहने लगे हैं कि हिन्दुस्तान को राष्ट्रभाषा की जरूरत नहीं है। हिन्दुस्तान को एक करने का यत्न ही अच्छा नहीं है, अलग-अलग प्रांतों को आजाद कर दिया जाये। अगर वे आपस में मिल कर रहना चाहें तो मिल लें और वे ही अपनी भाषा तय कर लें। अब हम एक-एक करके विचार करें।

हिन्दी को राष्ट्र-भाषा स्वीकार किया गया है, पर वह कुछ ऐसा है जैसे जनता का दबाव था, वर्ना नहीं किया जाता। सरकारी अफसर और नेता अंगरेजी खाद में उगे पेड़ हैं और उनमें जो फल लगते हैं वे अंगरेजी स्वाद देते हैं। यही कारण है कि जो सम्मान और गौरव विदेशों में अपनी भाषा में लिखने से लेखकों को प्राप्त होता है, अब भी भारत में नहीं होता। हमारे देश के नेता भारत की भाषा और संस्कृति की या तो रूढ़िवाद के नाते लीक पीटते हैं, या अंगरेजी पटरियों पर उनकी बुद्धि की रेल चलती है। वे अंगरेजी के ज़रखरीद नहीं, तो मनखरीद गुलाम जरूर हैं। दुनिया भर के नेताओं को अपनी भाषा का साहित्य पढ़ने का समय मिलता है, हमारे देश के कम्युनिस्ट नेता तक अंगरेजी के गुलाम हैं, तो पूँजीवादी नेताओं की तो बात ही क्या? इसी प्रकार के स्वार्थी नेताओं ने जो अपनी गद्दियाँ कायम रखने की कोशिश की हैं, उससे वे अपनी कोशिशें और चालबाजियाँ करते हैं। कभी अंक अंगरेजी में रख कर, कभी शब्द अंगरेजी में रख कर। वे भाषा को दूसरों पर थोपते हैं, उनकी नजर में भाषा विज्ञान नहीं है। अंगरेजी के बाद दक्षिण में हिंदी हो, इस प्रश्न पर आगे विचार किया जायगा। फिलहाल यह कहना है कि जिस ढंग से हिंदी को दक्षिण पर लागू किया गया है, उससे दक्षिण को भड़काया ही अधिक गया है।

हैदराबाद ने अपने प्रयत्न निजाम के राज्य में प्रारंभ किये और निश्चय ही वे भाषा को दो राष्ट्रों के सिद्धांत पर बना रहे थे। वह इसीलिये ग्राह्य नहीं है, क्योंकि उसमें फूटपरस्ती का बीज डाला गया था। डा० रघुवीर में उसी की प्रतिक्रिया है कि चलो बहुत दिन बाद हिंदू राज हुआ, उसका पूरा फायदा क्यों न उठाया जाय? सुन्दरलालजी का प्रयत्न एक ईमानदारी का यत्न है, वे सरल भाषा लिखते हैं। दोनों लिपियों में पत्र छपता है—नागरी और उर्दू लिपि में। पर वह एक मिशनरी की सद्-भावना-सा प्रयत्न है। आज की वैज्ञानिक माँग को वह भी हल नहीं कर पाता।

दक्षिण में राष्ट्रभाषा के नाम पर गांधीजी के प्रभाव से प्रायः हिन्दी को ही हिंन्दुस्तानी कह कर स्वीकार किया गया है। उन्होंने लिपि में अवश्य परिवर्त्तन करने की कोशिश की है। वे च को क्ष तथा इ को त्रि आदि लिखते हैं। राहुल ने हिन्दी के विषय में कोई अनर्गल बात नहीं की है। पर उन्होंने हिन्दी को स्वतः-सिद्ध राष्ट्रभाषा मान लिया है। कम्युनिस्ट उग्रवादियों ने या नर्मवादियों ने नारों के ढकोसलों में उन पर व्यर्थ आक्रमण किया है कि राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ से वे मिल गये हैं। वे यह भूल जाते हैं कि प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ प्रायः जनतांत्रिक नारों का इस्तेमाल करती हैं। कम्युनिस्ट जब अंगरेजों से आजादी चाहते थे, बिरला सेठ भी यही कहते थे। पर दोनों के दृष्टिकोण में भेद था—नारा एक था। राहुल और रा० स्व० से० सं० का नारा एक हो सकता है, दृष्टिकोण अलग-अलग है।

मार्क्सवादी लेखक किस भाषा की बात करते हैं यह आज तक जाना नहीं जा सका। वे प्रायः वही भाषा लिखते हैं जिसे बिरला का हिन्दुस्तान या डालमिया का धर्मयुग छापता है। कैसे वही भाषा कम्युनिस्टों के हाथ में पड़कर जनतांत्रिक हो जाती है और हिन्दुस्तान, धर्मयुग में प्रतिक्रियावादी यह स्पष्ट नहीं होता। हंस और नया साहित्य जनता की भाषा के यदि प्रतीक हैं, तो अज्ञेय का 'प्रतीक' उनसे कौन दूर है? वैसे बड़े-बड़े नारे सुनना सहज है, उन पर अमल करना बहुत कठिन है। हम बात पर तभी गौर कर सकते हैं जब कहने वाले की कथनी और करनी एक हो। हम इरादों से नहीं, आदमी को उसके प्रत्यक्ष काम से ही देखना चाहते हैं।

और इस सबके बाद हिन्दी और उर्दू का झगड़ा है। उर्दू को अब पाकिस्तान मिल गया है। हिन्दी उसका बदला लेना चाहती है। पर उर्दू का ख्वाब बंगाली तोड़ रही है, हिन्दी का सपना तोड़ने को कई भाषाएँ हैं। उर्दू वाले पंजाबी और उत्तर प्रदेशीय मुस्लिम बंगालियों के भाषा-प्रयत्नों को हिन्दू षड्यंत्र मानते हैं, और हिन्दी वाले हिन्दी-विरोधियों को

अपना राष्ट्र-शत्रु मानते हैं। अन्य भाषा-भाषी कहते हैं कि हिन्दी और उर्दू का साम्राज्यवादी दृष्टिकोण है। भारत के उर्दू वाले भी हिन्दी से यही कहते हैं और पाकिस्तान में जोर से एकता की राय देते हैं। क्या अच्छा मजाक है! उर्दू और हिन्दी को, अंग्रेजों के दृष्टिकोण से देख कर, मुसलमानों को अलग कौम मानकर, दो भाषा समझा जाता है।

इन सबसे चिढ़ कर भारत को राष्ट्रभाषा की जरूरत नहीं बताई जाती। यह कोई असंभव बात नहीं है। यूरोप में सभी देशों में अपनी-अपनी भाषाएँ हैं। भारत में भी हो सकती हैं। पर यूरोप में फ्रेंच, पूर्वीय यूरोप और सोवियत् यूनियन में रूसी, मंगोली मुल्कों में चीनी भाषा या बाकी देशों में अंगरेजी का प्रभाव अधिक है। इसी तरह भारत में हिंदी समझने वाले सबसे अधिक हैं। वह हिन्दी साहित्य की हिन्दी नहीं है, साधारण बोलचाल की जुबान है। वह कोई मानदण्ड नहीं रखती, हर प्रांत में अपनी जनपदीय क्रियाओं और विशेषताओं से रँग ली गई है। अतः उसे Standard नहीं माना जा सकता। भारत अपने को एक मानता है, एक दूसरे प्रांत से बहुत काम पड़ते हैं, अतः एक भाषा की भी आवश्यकता पड़ती है। साम्यवादी तरीका तो यह है कि सब जनपद स्वतंत्र हों, भाषा चुनने की उन्हें पूरी आजादी दी जाए। बकौल स्तालिन के भाषाएँ इतिहास के क्रम में धीरे-धीरे, जैसे-जैसे जनता परस्पर मिलती जायेगी, कम होती जायेगी। कोई भाषा मरेगी नहीं। एक दूसरी से मिलेंगी, नई का जन्म होगा और इस तरह एक दिन दुनिया में एक ही भाषा रह जायेगी। पर वह आज के दौर की बात नहीं है। भाषा का विकास देखना यहाँ आवश्यक है।

पहले हिन्दुस्तान में कोल, मुण्डा आदि भाषाएँ थीं जो आग्नेय भाषाएँ कहलाती हैं। फिर संस्कृत-वैदिक आई अर्थात् वेद की भाषा। उसे परदेशी आर्य लाए। आपस में एक दूसरी का एक दूसरी पर प्रभाव पड़ा। आर्य भाषा जो वैदिक थी वह जब साहित्यिक हो गई तब जनता में पहली प्राकृत

चली ! किसी समय वैदिक संस्कृत भी आमफ़हम ज़ुबान रही थी। यह जब साहित्यिक बन गई तब तक भाषा बदली और पहली प्राकृत का बोलबाला हुआ। उस प्राकृत के भौगोलिक भेदों से कई रूप थे। उनमें से मेरठ की बोली बढ़ी और वह सबने स्वीकार कर ली। वह संस्कृत कहलाती है। उसी में पुराण, रामायण, महाभारत हैं। कालिदास आदि ने उसी में लिखा। यह 'लौकिक' यानी 'दुनियाबी' कहलाई। पुरानी पड़ी 'वैदिक' को देवताओं की भाषा समझ कर 'देव-भाषा' कहा गया। जब यह लौकिक साहित्यिक हो गई तब तक भाषा के कई रूप विकसित हो गये और अपभ्रंश बनी। अपभ्रंश से राजस्थानी, हिन्दी, बंगाली, गुजराती, मराठी, इत्यादि निकलीं। भारत में द्रविड़ कहलाने वाले भी विदेशी थे, वे आर्यों से पहले आये थे। उनकी भाषा का विकास हुआ और उसमें से तामिल, तेलेगु, कन्नड और मलयालम निकलीं। पैशाची आदि और भी भाषाएँ थीं, जो इन्हीं दो झुण्डों में घुलमिल गईं।

समय बीता तो दक्षिण और उत्तर का संसर्ग बढ़ा। संस्कृत के बहुत से शब्द मलयालम और तेलेगु ने ले लिये।

यह तो हुआ भाषा का विकास। पर सवाल यह है कि यहाँ की अनेक जातियों की भाषा कहाँ गई ? संस्कृत परदेशी लाये, वे कैसे सब पर हावी हो गये ? क्या दक्षिण पर उन्होंने राज्य किया था ? नहीं ! इसका कारण समाज के विकास में मिलता है।

आर्यों की पहली भाषा 'वरस' थी। उसमें से विकास हुआ। लेटिन, ग्रीक निकलीं, हिंद-ईरानी निकलीं। हिंद-ईरानी से दो भाषाएँ बनीं। हिंद की यानी वैदिक, ईरानी यानी फ़ारसी। उस वैदिक को लेकर आर्य भारत आये। यहाँ के लोगों में कुछ को हराया, कुछ से समझौता किया। उस समय निश्चय ही आर्य के अलावा अनार्य भाषाएँ भी थीं। वे आपस में मिलती गईं। आर्यों में तब चातुर्वर्ण्य शुरू हुआ था। उस वक्त ब्राह्मण

क्षत्रिय और वैश्य तो आर्य थे पर शूद्र अनार्य थे। वैदिक संस्कृत के साथ बोलियाँ बढ़ीं। मेरठ की बोली लौकिक संस्कृत जब बढ़ी तब चातुर्वर्ण्य का मतलब बदल गया। अब जितनी सभ्य जातियाँ थीं उनके पुजारी ब्राह्मण वर्ग में, क्षत्रिय लड़ाकू वर्ग में, व्यापारी वैश्यवर्ग में और कमकर शूद्र वर्ग में मिल गये। पहले बर्बर समाज था, उसमें दास-प्रथा थी। दास-प्रथा टूटी तो सामंतवाद आया जिसमें किसान को दासता से आजादी मिली। प्रायः यही समय है जब पाणिनि हुआ था। लौकिक संस्कृत का उदय हुआ। सामंतवाद को भी चार ही वर्गों की जरूरत थी पुजारी, योद्धा, व्यापारी और कमकर। बर्बर यानी दास-प्रथा के समाज में पुजारी यानी ब्राह्मण की जगह सबसे ऊँची थी। सामंतवाद में वह घट गई। योद्धा यानी क्षत्रिय ऊपर आ गया और व्यापारी यानी वैश्य का भी मान बढ़ा। व्यापार अब बढ़ा; क्योंकि इस समय तक नदियों और समुद्र-व्यापार से अब तक का व्यापार का संतुलन बदला। ब्राह्मण की राय में कलियुग का प्रारम्भ हुआ, पर व्यापारियों ने पाली और संस्कृत का आश्रय लिया। दक्षिण में ब्राह्मणों ने जाकर कुछ समय राज्य किया और जब दक्षिण के पुजारी भी ब्राह्मण वर्ग में मिल गये, तब संस्कृत को ही उन्होंने स्वीकार किया और दक्षिण की भाषाओं पर संस्कृत का प्रभाव बढ़ा।

जब यों विकास होते-होते उत्तर में गुजराती, मराठी, बंगाली, हिन्दी थी, दक्षिण में तामिल, मलयालम आदि, यूरोपीय पूँजीवाद ने अपने पाँव भारत पर टेके। उस समय फिर एक इतिहास की अद्भुत कड़ी जुड़ी। फिर उसी मेरठ जिले की बोली, खड़ी बोली फैली और बदल-बदला कर वह एक ओर हिन्दी के रूप में प्रस्तुत हुई, दूसरी ओर उर्दू के रूप में। अर्थात् खड़ी बोली के हिन्दू संस्करण में संस्कृत से, बोली को भाषा बनाते हुए, शब्द लेते हुए, हिन्दी बनी और बोली को भाषा बनाते हुए, फारसी-अरबी से शब्द लेते हुए, उर्दू बनी। अंगरेजों ने फूट डालकर दोनों को और कट्टर बना दिया। उस समय संस्कृत नमस् से एक तरफ नमस्ते पर जोर

दिया गया और विरस भाषा से निकले नमस् (वैदिक) के साथ फारसी (ईरानी) नमाज पर उर्दू वालों ने जोर दिया।

उर्दू वालों ने ज्यादा कट्टरता से काम लिया। हिन्दी में अनेक मुसलमानों के कवित्व दिखाये गये। उर्दू में भी हिन्दू कवि थे। पर हिन्दी वालों ने जहाँ पहले उर्दू के प्रति सौहार्द्र बढ़ाया, उर्दू वाले चूँकि कम थे और अपनी कौमियत की रक्षा उन्हें उर्दू में दिखाई दी, वे जान-बूझ कर हिन्दी के शब्दों का गलत उच्चारण करते। जायसी, अब्दुल रहीम खानखाना, और ऐसे अन्य कवि तो हिन्दी खूब बोलते-लिखते थे, पर अब यज्ञ को उर्दू वाले 'आगीया', प्रगति को 'परगत' आदि कहने लगे और उन्हें जानबूझ कर हिन्दी बोलने में तकलीफ होने लगी। उनका जोर रहता कि जो लिखेंगे वही बोलेंगे, वही पढ़ेंगे। उन्हें ज़ोम था कि काफ़िरों पर राज किया है, हम प्रगति को परगत न कहकर, भला ज़ुबान तोड़ेंगे? पर उन्होंने अंग्रेजी के (Preparation) प्रिपेरेशन को परपिरेशन कभी नहीं किया। उसे तो ठाठ से बोलते थे। भोजनालय को उन्होंने सदा 'भोजिनायले' कहा, पर रेस्ट्रैरेंट की जगह ढूँढ कर फ्रेंच का ठीक उच्चारण 'रेस्त्राँ' लाये। यों वे खुद को बहलाते रहे। अंगरेज पंखा लेकर लपट ऊँची करते रहे। बदले में वे कहते कि हिन्दी वाले इज़्ज़त को इज्जत कहते हैं। वे नीचे की बिंदी की कमी का मजाक उड़ाते, जो हिंदी में चल निकली थी और उर्दू की हिन्दी में उच्चारण की गलती एक इच्छा नहीं, वरन् भौगोलिक असर था। बिहारी और राजस्थानी हिन्दी का भी वह उच्चारण नहीं कर पाते जो उत्तर प्रदेशीय लोग करते हैं। स्वयं उर्दू वाले अंगरेजी का वह उच्चारण नहीं कर सके जो अंगरेज करते हैं। यह भौगोलिक भेद है। उर्दू की कोई भौगोलिक सीमा नहीं थी, जो हम उर्दू के साथ यह कमी अनुभव कर सकें। जब से रेडियो पर तनख्वाह पाने वाले उर्दू वाले बोले, उन्होंने वह शुद्ध उच्चारण किया कि सुनकर अचरज हुआ। ग्वालियर के मुसलमान खूब हिंदी बोलते थे, भरतपुर में वे हिंदी-नागरी लिपि लिखने में सिद्धहस्त थे। बहमनी के

शाह हिंदी के कवि थे। औरंगजेब हिंदी में कविता लिखता था। ब्रज भाषा को उर्दू वाले रेख्ता कहते थे, पर मीर तक उर्दू को हिंदवी। खान-खाना हिंदी में अमर हैं। आज के मुसलमान जो यहाँ के ही पुराने बौद्ध और शैव हैं, वे तो उच्चारण नहीं कर पाते, पर परदेशी खुसरो कर लेता था? ज़रा ११वीं सदी के अबदुर्रहमान की भाषा सुनिये :

अणु राइय रयिहरु कामिय-मणहरु,
मयण मणह - पह - दीवयरो
विरहिणि मइरद्धउ सुणहु विसुद्धउ
रसियह रस - संजीवयरो।
अइठोहिण भासिउ रइमइवासिउ
सवण सकुलियह अमिय सरो
लइ लिहइ वियक्खणु अत्थह लक्खणु,
सुरइ-संगि जु वि अड्ढ-नरो।

किसी तंग नजरिये के उर्दू वाले को दे दीजिये। वह पढ़ भी लेगा? वह विरहिणि की जगह 'बिरहन' पढ़ेगा। यह क्यों? तंग नजरिया। कौमियत की हिफाजत का डर। हिंदी को काफिर जबान और अपने को हुक्मराँ समझने का मुगालता, और नतीजे में एक लफ़्ज में—अक्ल का दिवालियापन।

उर्दू को ऐसा बनाने में हिन्दी वालों का हाथ कम नहीं है। शुरू में थोड़ी नर्मी बरती। उससे काम न चला तो इस्लाम की टक्कर पर जैसे सिक्ख मत चला, हिन्दीवालों ने चोट की। और यों फिसाद बढ़ता गया। अमूमन हिन्दी वाले जितने उर्दू शायरों के नाम जानते हैं उतने उर्दू वाले हिन्दी वालों का नाम भी नहीं जानते, क्योंकि जानना नहीं चाहते। इधर कुछ 'परगतवादियों' ने नागरी लिपि में भी पत्र निकाले हैं। पर वह अपनी उर्दू लिपि को ज्यों-के-त्यों बचा लेने के प्रयत्न में। वे कृष्ण को कृशन लिखते हैं। पूछिये तो कहेंगे उर्दू में योंही लिखा जाता है। कृष्ण

शब्द का भौगोलिक रूपों में विकास हुआ है। बंगाली कृष्टो कहते हैं, मदरासी कृष्णन कहेगा। राजस्थानी किसन और फिर भी कोई कृशन नहीं कहेगा। कृशन एक विकृत लिपि का नमूना है, भाषा का विकास नहीं है। जब आर्य आये थे तो हुकूमत के या अपनी विकृति के नतीजे में उन्होंने पुन्त को सिंधु, खोंग को गंगा, और म्रानमा को ब्रह्मपुत्र कहा। ग्रीक आये तो उन्होंने सिंधु को हिंद और अंग्रेजों ने लखनऊ को लकनऊ, मदरास को मैडरास, बम्बई को बौम्बे और मथुरा को मटरा कहा। यह भी माना जा सकता है कि यह भौगोलिक उच्चारण भेद थे। पर मुसलमानों को सदियाँ हो गईं, आर्यों की तरह उन्होंने अनार्यों के देवी-देवताओं की पूजा न की। घुले-मिले नहीं। आर्य जीता तो अपनी असलियत हार कर। यह वह आर्य नहीं रहा जो वेद के देवताओं को मानता था। आर्यों के देवता अनार्यों के देवताओं के नीचे दब गये। सांस्कृतिक मिलन हुआ। पर मुसलमान ६० फी सदी यहीं के थे। वे बौद्ध और शैव थे जो इस्लाम की तलवार की सख्ती से नहीं; अपने ब्राह्मणविरोध के कारण मुसलमान हो गये थे। ये बौद्ध और शैव सदा से ही जाति-पाँति के दुश्मन थे। इस्लाम में नजात दीखी, घुस गये और उस वक्त इस्लाम के उस उच्च वर्ग ने जो अलग रहने में ही हुकूमत करने की सहूलियत देखता था शैवों और बौद्धों को फारसी-अरबी के शब्द सिखाये। कुछ उर्दू वाले कहते हैं कि हमने हिंदी के ये लफ्ज लिये, वे लफ़्ज लिये, और इस तरह अपनी मेहरबानी दिखाते हैं। जबकि यह गलत है। यहाँ के रहने वाले कितनी भी अरबी-फारसी सीख लेते, उनसे क्या अपनी बोली छूट सकती थी? और इस तरह मुहम्मद बिन कासिम से मुगलों तक, ८०० बरस रह कर जब फ़ारसी-अरबी का प्रभाव बढ़ा तब उर्दू का जन्म हुआ जो लश्करों की जबान बनी। क्योंकि उन्हें मजबूर होकर अपना महल मेरठ की खड़ी बोली के आसरे पर खड़ा करना पड़ा। वही देश-भाषा जो मेरठ जिले से फैली, उस खड़ी बोली के दो रूप हुए—हिंदी बोली जिसमें खड़ी बोली को

संस्कृत से रँगा गया, और उर्दू बोली जिसको फ़ारसी-अरबी से रँगा गया। फिर दोनों में फूट पड़ती गई। इंशाअल्लाखाँ की जगह ऐसों ने ली जिन्हें इकबाल की तरह उर्दू में लिखने का वैसा ही गम हुआ जैसे केशव को हिंदी में लिखने से हुआ था।

उर्दू और हिंदी दोनों की क्रियाएँ एक हैं। संस्कृत की धातु से हिंदी को न भरा गया, अरबी-फारसी की धातु से उर्दू भरी गई। पुस्तक का बहुवचन पुस्तकें बना और वकील का वकीलों आदि; पर उर्दू में वकील का वुकला, किताब का कुतुब बनाया गया। हिंदी में यह संभव न था अपने अधिक समाज के कारण, उर्दू में संभव हुआ धार्मिक संकीर्णता और शहरी होने के कारण। उर्दू निस्संदेह उतनी व्यापक नहीं जितनी हिन्दी। देहातों में कचहरी के काम के शब्द छोड़ दीजिये, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, मध्य भारत, मध्य प्रांत, बघेलखण्ड, बुन्देलखण्ड, छत्तीसगढ़, बिहार सबमें हिन्दी ही अधिक है। हिन्दी ही इतर प्रांत के लोग अधिक समझते हैं। मजबूरी ही सही, इस समय असलियत यही है। इससे इंकार करना सत्य को झुठाना है। दक्षिण के विषय में हम आगे कहेंगे। दक्षिण में ब्राह्मण हिंदी चाहते हैं। अब्राह्मण हिंदी को संस्कृत की बेटी समझकर उसे स्वीकार करने से हिचकिचाते हैं। यह गलत यों है कि अब्राह्मणों ने ब्राह्मणों से जो सदियों से संघर्ष किया है उसमें हिंदी ही संस्कृत के विरुद्ध खड़ी हुई। इनका आपस में झगड़ा चला। थोड़े-से तुलसीदास आदि को छोड़कर देखिये, सिद्ध, नाथ, संत, और ब्राह्मणविरोधियों ने हिंदी में ही लिखा है और संस्कृत पर विजय पाई है। विकास के अनुसार संस्कृत के शब्द उसमें आ गये हैं तो इसलिये कि अपभ्रंश यानी संस्कृत से बिगड़ी भाषा के तद्भव में तत्सम शब्दों ने आकर संस्कृत की पूरी विरासत को अपना लिया और अपने को संस्कृत के खिलाफ खड़ा कर दिया।

इसी हिंदी ने पूँजीवाद के उदय के साथ फिर संस्कृत को पकड़ा जैसे उर्दू ने फ़ारसी-अरबी को, क्योंकि पूँजीवाद का सांस्कृतिक पक्ष

पुनुरुत्थानवाद से प्रारम्भ हुआ अर्थात् Revivalism उसका मूल स्वर रहा।

दक्षिण में ब्राह्मण संस्कृत धर्म के नाते चाहता है। अब्राह्मण तमिल या देशभाषा ही चाहता है। अंग्रेजी दोनों अन्तर्राष्ट्रीय भाषा के नाते चाहते हैं। झगड़ा हिन्दी का पड़ता है। क्या वे राष्ट्रीय भाषा चाहते हैं? यदि नहीं तो उनकी स्वतंत्रता? पर यदि चाहते हैं तो हिंदी के अतिरिक्त कोई भी भाषा इस योग्य नहीं जो उनके काम आ सके। हिंदी की लिपि और व्याकरण में थोड़ी-सी तरमीम, थोड़ा-सा सुधार काफी है कि वह इसे पूर्ण योग्य भाषा करदे, जब कि कोई अन्य भाषा ऐसी नहीं जिसमें मौजूदा हालत में भी इतनी व्यापकता हो, जो पढ़ा जाये सो ही लिखा जाये, जो लिखा जाये सो ही दुहराया जाये। उर्दू लिपि इस दृष्टिकोण से कमजोर है। उसे केवल धार्मिक दृष्टिकोण से सीखा जा सकता है।

उर्दू को यदि एक बोली मानकर हिंदी साहित्य में ले लिया जाये तो झगड़ा नहीं रहेगा। यह सुन कर लोग चौंकते हैं कि देखो उर्दू पर कैसा हमला हो रहा है कि उसे भाषा से बोली करार दे दिया जा रहा है। पर वे यदि देखें कि यह उतनी ही सच्चाई है जितनी हिन्दी भी खड़ी बोली का एक रूप, एक शैली ही है। हिंदी भाषा कोई एक भाषा नहीं है। हिंदी साहित्य बोलियों का भण्डार है।

सरहपा से 'पृथ्वीराजरासो' के कवि चंद तक हिंदी साहित्य का विद्यार्थी एक ऐसी बोली पढ़ता है जो अपभ्रंश है, टीका के जरिये ही समझी जाती है।

दूसरी बोली मैथिली है (विद्यापति) जो भी टीका के बिना बड़ी कठिनता से समझ में आती है।

तीसरी बोली सधुक्कड़ी संतों की कविता है जो आज की बोली नहीं।

चौथी ब्रज है।

पाँचवीं अवधी है।

छुटी राजस्थानी है। और फिर बुंदेली और बघेली के रूप हैं।

इन सबको पढ़ कर वह फिर खड़ी बोली तक आता है। यहाँ से खड़ी बोली के दो रूप हुए—एक उर्दू बोली, एक हिंदी बोली। उर्दू का पूर्ण इतिहास हिंदी साहित्य के इतिहास में ले लिया जाय। उर्दू की मॅजाहट, नफासत, चुभन, हिंदी साहित्य के गौरव का विषय बन जायेगी। उर्दू वालों का कोई नुकसान न होगा। वे नागरी लिपि में एक अधिक कीमती और बड़े साहित्य के वारिस हो जायेंगे। आपस की फूट न रहेगी। और सबसे बड़ी बात होगी कि तब अपने आप नई भाषा का जन्म होगा। उर्दू लिपि निस्संदेह धार्मिक कार्य के अतिरिक्त और काम नहीं आ सकती। हिंदी नागरी उर्दू से बेहतर और आसान है। हिंदी लिपि का विकास सदियों में ब्राह्मी से हुआ है। उर्दू का विकास नहीं हुआ, उसे उधार लिया गया है। यों बिना परेशानी के दूर झंझट होता है, क्योंकि उर्दू वाले हिदुस्तान के हैं। उनमें एक सम्प्रदाय की संस्कृति अधिक है जैसे अवधी में रामकाव्य है, अपभ्रंश में सिद्ध काव्य है, उर्दू में अल्लाह काव्य अधिक है। उर्दू तो दबाई नहीं जा सकती और वह न यों मरेगी ही। हिंदी-उर्दू एक होकर अमीर होंगी। शताब्दियों से जो शब्द ईरानी और अरबी से भारत ने ले लिये हैं वे पूरे के पूरे हमारे पास आ जायेंगे और इस हिंदी-उर्दू के सम्मेलन से सहज ही एक नया कोष बनाया जा सकता है, जिसमें संस्कृत, अरबी, फारसी को विकृत करके वे कठिन शब्द नहीं लिये जायेंगे जिन्हें जनता समझ नहीं सकती। हिंदी भाषा-भाषी प्रांत की समस्या का हल यों हो सकता है। अब सवाल आता है अंतर्प्रान्तीय भाषा हिंदी हो या नहीं।

अगर प्रत्येक प्रांतवासी राष्ट्रभाषा चाहे तो उत्तर भारत में तो हिंदी के सामने कोई भाषा नहीं।

पाकिस्तान में उर्दू है, पर उर्दू अपनी लिपि के कारण पंजाबी, बंगाली से दूर है। सिंधी की लिपि उर्दू है, वह उर्दू ही रहनी चाहिये। बाकी

पाकिस्तान कई कौमों का झुण्ड है, वहाँ उर्दू का आधार धार्मिकता ही है, भाषा का वैज्ञानिक दृष्टिकोण नहीं।

उत्तर भारत की प्रत्येक लिपि नागरी लिपि के समान है, उसे सीखना कठिन भी नहीं। दक्षिण के लिये नागरी लिपि भी कठिन है। दक्षिण यदि चाहे तो वह नागरी लिपि ले सकता है। उससे सरल उसके लिये कुछ नहीं। पर दक्षिण के बारे में उत्तर को उतना ही जानना बाकी है जितना दक्षिण को उत्तर के बारे में।

भाषाओं का यों विकास हो सकता है।

प्रांतों का भाषाओं के हिसाब से पुनर्निर्माण हो। मुख्य भाषाएँ यह होंगी—(१) हिन्दी प्रांत, (२) बंगला प्रांत, (३) उड़िया प्रांत, (४) गुजरात प्रांत, (५) महाराष्ट्र प्रांत (६) पंजाबी प्रांत इत्यादि। पाकिस्तान में होंगे—(१) पश्तो प्रांत, (२) सिंधी प्रांत। दक्षिण में होंगे (१) आंध्र-प्रांत, (२) मलयालम प्रांत, (३) कन्नड प्रांत, (४) कोंकणी प्रांत, (५) तमिल प्रांत इत्यादि।

हिंदी प्रांत सबसे बड़ा होगा।

इन सब भाषाओं के अन्तर्गत ऐसी बोलियाँ हैं जिन में साहित्य है। उन्हें बढ़ने की पूर्ण स्वतंत्रता देनी चाहिये।

संस्कृत, फारसी क्लासिकल भाषा होगी जो आवश्यक नहीं होगी। हिंदी प्रांत में उर्दू लिपि सीखने की भी स्वतंत्रता होगी, पर उसे नागरी लिपि का दर्जा नहीं दिया जा सकेगा, वह धार्मिक आवश्यकता होगी।

एक अंतर्राष्ट्रीय भाषा और राष्ट्रभाषा के रूप में हिंदी सीखना यदि प्रत्येक प्रांत चाहे तो वह सीखेगा।

इनके अतिरिक्त उत्तर भारतीयों को एक दक्षिण भारतीय भाषा सीखना भी लाभदायक सिद्ध होगा।

इस प्रकार प्रत्येक प्रांत में इतनी भाषाएँ आवश्यक हो सकती हैं—अपनी भाषा, अपनी बोली, उत्तर भारतीय को दक्षिणी तथा दक्षिण भार-

तीय को एक उत्तर भारतीय। अंगरेजी तथा क्लासिकल भाषा आवश्यक नहीं होगी। तीन आवश्यक और दो अन्यथा भाषाएँ सीखने से सारी झगड़े की बात दूर होती है।

यदि परस्पर सम्बन्ध रखना है तो इससे सहज तरीका है, रूसी की तरह एक राष्ट्रभाषा को अंतर्राष्ट्रीय भाषा का पद दिया जाये। तब अपनी भाषा, अपनी बोली, एक राष्ट्रभाषा से काम चल सकता है। क्लासिकल भाषा यहाँ भी आवश्यक नहीं है।

हिंदी-उर्दू का झगड़ा शौकिया ज्यादा है। उत्तर-दक्षिण का परस्पर अज्ञान के कारण। यदि हिंदी वाले एक दक्षिणी भाषा सीखें तो वह झगड़ा डेढ़ दिन में समाप्त हो जायेगा।

इस विराट् सम्मिलन से भाषा का प्रश्न न साम्राज्यवादी ढंग अपनाता है, न उससे विद्वेष ही जन्म लेता है। हिन्दी ही अपनी व्यापकता के कारण राष्ट्रभाषा का स्थान ले सकती है। फिर भाषा को गढ़ने की आवश्यकता नहीं रह जाती, स्वयं हिंदी-उर्दू के मिलने से भाषा के विकास का रास्ता खुल जाता है।

प्रश्न हो सकता है कि इतना भी क्यों सीखा जाये? संसार के देश एक दूसरे के पास आ रहे हैं। जनता मिलना चाहती है। यदि राष्ट्रभाषा की आवश्यकता नहीं है, तो अंतर्राष्ट्रीय भाषा की आवश्यकता नहीं है। स्वावलंबन की चरम सीमा अपनी बोली मात्र का ज्ञान है। दुर्भाग्य से आज उससे सारी समस्याएँ हल नहीं हो सकतीं। राष्ट्रभाषा इसीलिये आवश्यक है।

महात्मा गांधी और कवि पंत

छायावाद व्यक्ति की अतृप्त आकांक्षाओं का रूढ़ियों के प्रति विद्रोह भरा स्वर है जो प्रकृति के सौंदर्य में अपना विकास ढूँढता रहा है। एक ओर जहाँ उसने सामंतीय बंधनों के सौंदर्य और भारतीय पुनर्जागरण की उपादेयतावाली इत्तिवृत्तात्मकता के स्थान पर, ईश्वर को हटा कर समस्त सृष्टि के उत्थान और पतन में अपना सामंजस्य स्थापित किया है, वहाँ मशीनयुग की विषमता से घबरा कर उसमें पलायन का स्वर है। छायावाद में पूँजीवादी व्यक्तिगत स्वच्छन्दता के संपूर्ण स्वर हैं। जिनमें रहस्य और विकास निहित है और उसकी भाषा का शृंगार अपूर्व है। छायावाद विद्रोह भी है और पराजय भी, क्योंकि मूलतः वह व्यक्तिमूलक भावनाओं का चित्रण है। उसमें पश्चिमी चिंतन का प्रभाव है। परंतु प्रत्येक छायावादी कवि में प्रत्येक गुण नहीं हैं। वस्तुतः छायावाद अपने आप में कोई वाद नहीं है। यह नाम एक विशेष प्रकार की शैली न समझने के कारण संभवतः भ्रमवश ही पड़ गया था। आज जब वह नाम पड़ ही गया है तब छायावाद की परिभाषा देने के लिये प्रायः सभी आधुनिक काल के कवियों की विशेषताओं को गिनाना पड़ता है। इस प्रवृत्ति ने आधुनिक कवियों के मूल्यांकन में भी काफी बाधा उपस्थित कर दी है।

श्री सुमित्रानंदन पंत के विषय में अधिकांश भ्रम है। उनके काव्य के तीन रूप माने जाते हैं। प्रारंभिक, फिर राजनैतिक और अब प्रतिक्रियावादी। वस्तुतः यह भूल है। पंत प्रारंभ से ही एक मानववादी कवि है और उसमें मूलतः वैष्णव विचारधारा की सहिष्णुता विद्यमान है। यह विषय

इतना सहज नहीं है। पंत की विचारधारा में एक ही स्वर है, उसका उतार-चढ़ाव सदैव भिन्न रहा है, और यह नितांत स्वाभाविक है क्योंकि मनुष्य के जीवन में परिवर्त्तन आते हैं, उसका विकास होता है, आयु के बदलने के साथ मनुष्य की 'रति' की भावना भी बदलती है। 'रति' यहाँ संकुचित अर्थ में नहीं व्यापक अर्थ में प्रयुक्त की गई है। रति वह है जो मनुष्य के जीवन में समान रूप से काव्य का आनंद लेने की सामर्थ्य उत्पन्न करती है। यह आवश्यक नहीं है कि नवयुग में भी हम काव्य की रति का वही अर्थ ज्यों का त्यों स्वीकार करलें जो प्राचीन आचार्यों ने लिया था।

जीवन का विकास काव्य में भी विकास लाता है। काव्य का भाव कभी-कभी चिंतन प्रधान भी होता है। तुलसी के मानस का उत्तर काण्ड, वर्डस्वर्थ की 'अमरता के प्रति' नामक रचनाएँ ऐसी ही हैं। उदात्त चिंतन जब परिष्कृत रूप में प्रस्तुत किया जाता है तब उसमें काव्य का सा ही सौंदर्य आता है।

पंत ने अपने मध्यकाल में ऐसी ही रचनाएँ की हैं जो भावप्राधान्य के साथ चिंतन प्राधान्य भी लिये हुए हैं। इन रचनाओं को नीरस कहना काव्य के साथ अन्याय करना है। प्राचीनकाल में भी महाकवि जीवन के भिन्न समयों में भिन्न प्रकार की कविताएँ कर गये हैं। पंत ने भारतीय दर्शन को भी ज्यों का त्यों स्वीकार नहीं किया है। समाज और राजनीति के प्रति उसका चिंतन बहुत ही गंभीर रहा है। यह आवश्यक नहीं है कि उसे तदेवरूपेण स्वीकृत कर लिया जाए। हमें उस विशेष चिंतन को यहाँ देखना है जिसने पंत को प्रभावित किया है। पंत में वैष्णव विचारधारा का मानवतावाद ही मूल में है। और उसकी अपनी सामंतीय परम्परा थी। यही पंत ने महात्मा गांधी के प्रति लिखा है। पंत ने गांधी के प्रति जो कविताएँ लिखी हैं उनमें विवेचन है, और मनन है। पंत में भी वही द्वन्द्व है जो गांधी के चरित्र में था, किंतु पंत क्योंकि गांधी के बाद के युग हुए हैं, उनमें उसी का विकसित चिंतन है। पंत न कभी मार्क्सवादी थे,

न हैं। किन्तु पूर्ण रूप से यदि कोई मार्क्सवादी नहीं है तो हमें यह कहना उचित नहीं कि अमुक लेखक प्रतिक्रियावादी है।

गांधी के विषय में प्रायः प्रगतिशील लेखक कहते हैं कि वे पूँजीपतियों के दास थे और जागरूकतया उन्होंने मजदूर-किसानों के आंदोलन को बढ़ने से रोका। रूसी लेखक श्री वकार ने गाधी के प्रति यही भाव व्यक्त किये हैं। उनका कथन है कि जहाँ ताल्सताय अपने रूढ़िवाद के अतिरिक्त क्रान्ति के दर्पण भी थे, गांधी में वह भी नहीं था। वास्तव में गांधी ने मजदूर-किसानों के आंदोलन को बढ़ने से रोका भी था। परंतु क्या गांधी सचमुच पूँजीपतियों का दास था? श्री वकार ने इस विषय पर अनेक उद्धरण देकर प्रमाणित किया है। परंतु प्रश्न अभी और भी उठते हैं। गांधी देश के विभाजन के प्रारंभ में विरुद्ध थे। बाद में उन्होंने विवश होकर उसे स्वीकार कर लिया था। देश का विभाजन हिंदू और मुस्लिम पूँजीपतियों को समान रूपेण लाभदायक था, क्योंकि हिंदू पूँजीपतियों को हिंदुस्तान और मुस्लिम पूँजीपतियों को पाकिस्तान के रूप में लूट के क्षेत्र मिल गये थे। यदि गांधी पूँजीपतियों का दास था तो उसे दंगों का विरोध न करके उनका साथ देना आवश्यक था। पूँजीपति वर्ग की छाया में उठते हुए उग्र राष्ट्रीयतावाद के प्रतीक राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने यही किया था। श्री वकार ने लिखा है कि गांधी विभाजन के विरुद्ध थे। इसका कारण उन्होंने नहीं दिया। मार्क्सवाद के अनुसार कोई राजनैतिक नेता वर्ग स्वार्थ को देख कर ही चलता है। भावना मात्र का वहाँ कोई स्थान नहीं होता। फिर यह कह देने भर से क्या सारा काम चल जाता है? विवाद की कसौटी तर्क है। यहाँ श्री वकार असफल प्रमाणित होते हैं। अतः गांधी के इस द्वन्द्व को समझने के लिये हमें और गहराई में आना होगा।

गांधी ने अहिंसा का आंदोलन चलाया था। इसके दो कारण हो सकते हैं। एक यह कि ब्रिटिश सत्ता से लड़ने के लिये भारत में उस समय इतनी शक्ति नहीं थी, प्रचण्ड भय था। या यह कि गांधी का वर्ग स्वार्थ

शस्त्र बल से डरता था क्योंकि यदि मज़दूर-किसान हथियार उठा लेते तो वे अपने शोषक ज़मींदारां और पूँजीपतियों को भी उखाड़ कर फेंक देते। राजनैतिक रूप से विवेचन करने पर हमें ज्ञात होगा कि गांधी की भावना के अनुसार भले ही पहली बात सत्य रही हो, परंतु ऐतिहासिक रूप से विश्लेषण करने पर दूसरी ही बात सत्य है। भारत की जनता में सामंतीय अवशेष थे। गांधी ने धार्मिक भावना को जगा कर लोगों को बहकाया। श्री वकार यही कहते हैं। किंतु गांधी ने अछूतां के लिये जो आंदोलन किया वह यहाँ के धार्मिक विचारों के विरुद्ध था और इतनी बड़ी चोट को हिदू समाज ने चुपचाप स्वीकार ही नही किया, यहाँ के उच्चवर्णों ने भी उस नेता को मान्यता दी। इसका सबसे बड़ा प्रमाण है कि गांधी हिंदुओं का सर्वोच्च नेता था। यदि ऐसा न होता तो हिन्दू महासभा के नेताओ का नेतृत्व स्वीकार कर लिया जाता, जो नहीं हुआ। यह बात भी विचारणीय है। स्तालिन ने कहा है कि परिस्थिति ही क्रांत के आंदोलन को प्रभावित करती है। इसीलिये चीन ने सर्वहारा क्रान्ति न करके, जनतांत्रिक (People's Democracy) को अपनाया।

अहिंसा का आंदोलन गांधी से पहले बुद्ध और जैन तीर्थंकरों ने चलाया था। बुद्ध का समाज बर्बर व्यवस्था का ह्रासकालीन समाज था जिसमें द्रास प्रथा का अंत हो रहा था। बुद्ध चाहते थे कि गण व्यवस्था रहे, किंतु दास न हों, ऋणी न हों, स्त्रियाँ स्वतंत्र हों। वे निरंकुश साम्राज्यों के विरुद्ध थे। परंतु बुद्ध का स्वप्न पूरा नहीं हुआ। स्त्रियाँ स्वतंत्र नहीं हुईं, मनु का नियम नहीं टूटा, न ऋणी मुक्त हुए क्योंकि उत्पादन की पद्धति नहीं बदली, दास प्रथा टूटी परंतु दूसरे प्रकार से। दास उत्पादन के साधन नहीं रहे, पारिवारिक दास बने। सामंतकाल का उदय हुआ, दास के सर्फ बनाने के साथ और उच्चवर्णों ने बुद्ध धर्म को भी अपने लाभ के लिये प्रयुक्त किया। बुद्ध के चिंतन का मूल भी व्यक्ति की उन्नति थी। व्यक्ति की उन्नति पर यहाँ बहुत ज़ोर डाला गया था। यह अनार्य चिंतन

है जो प्रारंभ से गांधी तक भारत में विद्यमान रहा कि अनेक संप्रदायों, अनेक मतों के ऊपर यहाँ व्यक्ति की पूजा की गई है। उनके संप्रदाय और चिंतन तथा मतों की तो वर्गस्वार्थानुसार अंतर्युक्ति या उनमें परिवर्त्तन होता रहा है, किंतु व्यक्ति को श्लाघ्य महत्ता दी गई है।

गांधी के समय में पूँजीवाद उठा। सामंतीय ध्वंस विद्यमान थे। एक ओर जनयुग की नई विचारधारा थी जो वर्गों के रूप में समाज को देखती थी, दूसरी ओर गांधी का चिंतन था जो सामंतीय समाज के द्वन्द्व को देखता था और यह था भारत का पुराना वर्णयुद्ध। एक ओर सवर्ण, दूसरी ओर दलित, अंत्यज और अछूत तथा नीच जातियाँ। नीच जातियों के बंधन ब्रिटिश सत्ता के समय में भी नष्ट नहीं हुए क्योंकि ब्रिटिश पूँजीवाद ने यहाँ का सामंतवाद जड़मूल से नष्ट नहीं किया। उसे अपने लाभ के लिये जीवित रखा। गांधी ने अपना संघर्ष दो क्षेत्रों पर चलाया। पहला था वर्णयुद्ध का क्षेत्र और यह सामंतीय समाज में एक क्रान्तिकारी चिंतन था। दूसरा था वर्गयुद्ध जो पूँजीवादी समाज का युग प्रवर्त्तक चिंतन था। सवर्ण नीच जातियों पर अत्याचार करते थे। नीच जातियाँ कमकर जातियाँ थीं और सदा ही से संत मध्यकाल ही नहीं, प्राचीनकाल में भी उन्हें सहायता देते थे, उनके लिये स्वर उठाते थे। गांधी ने भी आवाज़ उठाई। परंतु उसकी आवाज का रूप वही था जो प्राचीन संतों का था। वह युगमूल परिवर्त्तन की पुकार नहीं, सहूलियतें देने की पुकार थी, जो श्रीकृष्ण के समय से चली आ रही थी।

गांधी के समय में क्योंकि सामंतवाद शेष था, गांधी में भी वहीं स्वर मिलता है। यह गांधी में मूलतः एक क्रान्तिकारी स्वर था। परंतु गांधी के समय में वर्णयुद्ध के अतिरिक्त वर्गयुद्ध की ललकार भी थी। गांधी उसके प्रति सहानुभूति नहीं रखता था वरन् वह उच्चवर्गों का सहायक था। यह गांधी का द्वन्द्व था। अब इस द्वंद्व को हम व्यक्ति की भावना मात्र कह

कर नहीं छोड़ दे सकते, जैसे श्री वकार ने किया है। हमें इसके भी ऐतिहासिक कारण ढूँढने होंगे।

गांधी के समय में साम्राज्यवाद विदेशी था और उसने भारत की अवस्था को उपनिवेश बना कर बहुत ही दयनीय बना दिया था। यही कारण था कि सवर्ण और निम्नवर्ग दोनों अधीन थे। दोनों ही विदेशी शक्ति को निकालना चाहते थे क्योंकि यहाँ के राष्ट्रीय पूँजीवाद को भी ब्रिटिश पूँजीवाद पनपने नहीं देता था। राष्ट्रीय पूँजीवाद में से सन् १६२७ में बड़े पूँजीवाद ने अंगरेजों से समझौता शाही अपना ली और श्री एम० एन० राय इत्यादि ने इसी को स्वीकार करके कांग्रेस का विरोध किया। दूसरी ओर कांग्रेस यहाँ के राष्ट्रीय पूँजीवाद को लेकर साम्राज्यवाद का विरोध करती रही। गांधी इस विरोध का नेता था। इस विरोध को गांधी ने देशी और विदेशी करके लिया था। वह वर्गयुद्ध को गलत और वर्णयुद्ध को ठीक तथा राष्ट्रीय स्वतंत्रता को उचित समझता था। ऐतिहासिक विश्लेषण हमें यही बताता है। क्योंकि भारत की जनता ग्रामप्रधान थी, सामंतीय ढाँचे में रही थी और उसका संघर्ष अधिकांश वर्णयुद्ध था, क्योंकि पूँजीवाद ग्रामों में पूरी तरह से घुस नहीं पाया था, गांधी नेता बना रहा। भारत की तात्कालिक परिस्थिति में मजदूर वर्ग न तो इतना अधिक ही था, जितना किसान वर्ग था, दूसरे क्योंकि भारत में विदेशी के प्रति युद्ध था, गांधी का प्रभाव बहुत अधिक पड़ा।

गाँधी ने सर्वांगीण चेतना फैलाई थी। उसने नारी को भी जाग्रत किया था। गांधी के इस द्वन्द्व को समझने पर हमें उसके सवर्ण और निम्नवर्ण युद्ध को देखना चाहिये। जब संसार में कार्लमार्क्स नहीं था, जब द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का चिंतन नहीं था, तब भी मनुष्य अन्याय के प्रति लड़ता था। और यह संघर्ष मध्यकाल के संतों में हमें दिखाई देता है। यही संतों की परम्परा गांधी में आकर समाप्त हुई है। गांधी में इसी शृंखला की अन्तिम कड़ी प्राप्त होती है। इस समस्त संत विद्रोह में संतों की न

एक विचारधारा थी, न एक उपास्य थे, पर वे सब निम्नजातियों की मुक्ति के लिये उठे हुए स्वर थे। यह स्वर मानवता का स्वर था और भारत में वैष्णव चिंतन इसका मूल था जिसने सब में समन्वय फैलाने का यत्न किया था। यह धारा भारत में ५०० ई० पू० के लगभग अंतर्मुक्त हुई थी जो निरंतर विकास करती रही। यही धारा बाद में शैव संप्रदायों के जाति-पांति के विरोध में अपना स्वर मिलाने लगी। बौद्धों और जैनों के जाति विद्रोह में यह अपना समन्वय करने लगी और कालान्तर में इसने करुणा और अहिंसा को अपना मूलाधार स्वीकार कर लिया, ईश्वरवाद इसका मूलाधार रहा। गांधी में यही जीवित थी। इसी के प्रभाव में व्यक्ति चेता था। और समन्वय की भावना भी गांधी में इसी के फलस्वरूप पाई जाती थी। इसका बीज था मानवतावाद।

विदेशी आलोचकों ने यदि गलती की है तो उसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं होना चाहिये। वर्णभेद की यह व्यवस्था भारत के अतिरिक्त संसार में और कहीं भी नहीं है और इसका जो अपना ऐतिहासिक महत्व है, उसे स्पष्ट करना सहज नहीं है। गांधी ने जहाँ एक ओर समझौता किया और पूँजीवाद को प्रश्रय दिया, दूसरी ओर उसने वर्णयुद्ध चलाया। यह युद्ध अपनी पुरानी परम्परा में चलाया गया, जिसमें समन्वय ही संघर्ष का प्राण था और व्यवस्था से भी ऊपर व्यक्ति को माना गया। व्यक्तित्व की उपासना भारतीय चिंतन में अपना व्यावहारिक स्वरूप रखती थी। यह तथ्य संसार के समस्त इतिहास में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय है क्योंकि कहीं भी जाति प्रथा का भारत जैसा रूप नहीं रहा। यदि हम इसके कारण ढूढ़ने बैठें तो प्राचीनकाल का इतिहास दुहराना होगा जिसमें आर्यों के आगमन से भी पुरानी संस्कृतियों पर दृष्टिपात करना होगा।

सुमित्रानन्दन पंत में 'परिवर्तन' के बाद बौद्धिकता प्रधान है। यह वैसा ही है जैसे प्राचीनकाल में कविगण शृंगार के उपरान्त भक्ति और ज्ञान का प्रश्रय लेते थे। युग के बदल जाने के कारण पंत में भी परिष्कृत

तथा परिवर्तित रूप है। इस परिवर्त्तन की उत्कट चाहना में ही पंत ने नवयुग का आह्वान किया था।

'द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र' कहकर उसने नया युग बुलाया था। किन्तु नवीनयुग पुरानी धारणाओं को समूल बदलता है। भारतीय दर्शन जिसे व्यापकता के रूप में शाश्वत सत्य मानता है वह जीवन की अभावात्मकता का श्रेयस्कर प्रमाणित करता है। पन्त की खोज ने प्रमाणित किया है कि व्यक्तित्व विकास की परिपाटी से देखने पर द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद भी उन्हें निर्जीव लगता है। इसका भी कारण है कि पंत भी एक परिवर्त्तनशील जगत में साधारणीकरण करके ऐसे शाश्वत सत्य का अनुभूति से ही तादात्म्य चाहते हैं जिसे वैज्ञानिक अन्वेषण मात्र प्रकट कर सकता है। पंत का गांधी काव्य भी इसी शृंखला की एक कड़ी है।

जिस वस्तु ने पंत को सबसे अधिक प्रभावित किया है, वह गांधी का अहिंसावाद है। गांधी अपने अहिंसावाद के जितने अनुयायी थे, यह उनके बलिदान से प्रगट होता है और पंत यहाँ व्यक्तित्व की विजय की बात ठीक कहते हैं कि इस विवेचन में अहिंसा का भी द्वन्द्व पैदा होता है। यहाँ हमें अहिंसा पर दृष्टिपात करना चाहिये क्योंकि पंत ने भी युद्ध के विषय में लिखा है कि सृजन ही मनुष्य के कल्याण की गरिमा है, संहार नहीं। वे नीत्शे की भाँति युद्ध को अनिवार्य नहीं मानते।

युद्ध तो अनादिकाल से होते रहे हैं और प्रत्येक युग में मनुष्य उनसे भयभीत होता रहा है। युद्ध क्यों होते हैं? एक पक्ष जब शस्त्र बल अर्थात् अनुचित बल से दूसरे पक्ष को दबाकर अपना स्वार्थ साधने का प्रयत्न करता है तब दूसरा दल जो अपनी रक्षा को उठता है, उनकी वह टक्कर ही युद्ध कहलाती है। युद्ध क्या करता है, कैसे उसकी विभीषिका वस्तुतः सर्वनाश का कारण बनती है, यह तो सब जानते हैं। युद्ध के पीछे भी एक दार्शनिकता खड़ी की गई है। करने वाले हैं वे, जो सदैव से ही

मनुष्य के विकास में बाधक रहे हैं, जिनकी मानसिक शक्ति में असाम्य और असहिष्णुता की बर्बरता छिपी रही है। प्रारम्भ से अब तक जितने युद्ध हुए हैं, उनके साथ ही हमें ऐसे लोगों के भी दर्शन होते हैं जो इस जनसंहारकारी हत्याकाण्ड के विरुद्ध रहे हैं। सबसे बड़ी बात यह रही है कि हमारी संस्कृति ने संहार करने वालों को उतना महान् स्वीकार नहीं किया जितना उन्हें जो इस संहार के विरुद्ध रहे हैं। जितने ऐसे न हुए जिन्होंने तलवार के बल पर संसार में विजय की दुन्दभि बजाई? किंतु अतीत ही नहीं हमारा समस्त मध्यकाल सन्तों की जितनी महिमा गाता है उतनी उनकी नहीं।

विलायत के इतिहासज्ञ जब भारत आये और उन्होंने हमारे देश का इतिहास ढूँढ़ना प्रारम्भ किया तो उन्हें राजाओं के सिलसिलेबार नाम ही नहीं मिले। मिले तो सन्तों के नाम, जिन्हें बड़ी भक्ति से याद किया जाता था, और यह भक्ति ऐसी अंधश्रद्धा में बदल चुकी थी कि उनका वर्णन भी ऐसे किया गया जैसे वे कभी भी मनुष्य नहीं थे। उनके चारों ओर चमत्कारों का अम्बार था। विदेशी इतिहासज्ञों के देशों के इतिहास छोटे थे और हमारे यहाँ के इतिहास का क्रम बांधना कठिन था। वह तो एक आकस्मिक घटना थी कि हिंदुस्तान पर सिकदर ने हमला किया था। उसके सिलसिले में हमने भारत के बारे में बहुत कुछ जाना सुना। उससे पहले का इतिहास कोई सम्बद्ध नहीं है। यही हो कि यूनानियों के आने के बाद भारतीयों का चिंतन बदल गया हो, सो भी नहीं कहा जा सकता। अलबेरूनी तक तो असंख्य राजा हो गये पर हमारे भारतीय आचार्यों ने फिर भी क्रमबद्ध इतिहास उपस्थित नहीं किया। सवाल उठता है कि ऐसा क्यों हुआ? क्या वे अरब और यूनानी विद्वानों से इतना भी नहीं सीख सकते थे? नहीं सीख तो सकते थे। मगर भारत में उन्होंने इसकी आवश्यकता ही नहीं समझी।

कभी भारत में दास प्रथा थी, फिर वह सामंत व्यवस्था में बदल

गई। परन्तु जनसमाज का उससे भी संपूर्ण कल्याण नहीं हुआ। परिवर्त्तन बहुत धीरे हुए। इसका कारण था कि यहाँ उत्पादन के साधन बहुत धीरे बदलते थे। तो जब समाज का जीवन मूलतः नहीं बदलता था, तो राजाओं की लड़ाई से लोगों को हानि ही होती थी। उन लड़ाइयों के पीछे व्यक्तियों की महत्त्वाकांक्षाएँ थीं। वे याद नहीं रखी गईं। यह राजा है, अमुक का बेटा है, योग्य है तो सिंहासन पर बैठेगा, नहीं तो कोई और आकर उसे फेंक कर उसकी जगह आ बैठेगा। इस जाति का न होगा, उस दूसरी जाति का होगा। तो जो भी हेर-फेर होगा वह जैसे लहरों की ऊपरी सतह में होगा, तले में क्या होगा? कुछ नहीं। अतः उसका कोई मूल्य नहीं रहा। अब यदि हम कहें कि फिर भी युद्ध का विषय हमारे इतिहास में प्रशंसा का विषय रहा है, तो हमें उन युद्धों के विषय में भी सोचना पड़ेगा। वे हैं रामायण और कृष्णकंस जैसे युद्ध। राम तो निस्संदेह एक सहिष्णु आर्य था जिसने आर्यदम्भ को तोड़ कर बानर और ऋक्ष जैसी आर्येतर जातियों से मित्रता की, तथा रावण को हरा कर भी राक्षसों को दास न बनाकर मित्र बनाया और इस प्रकार जातियों की घृणा को मिटाया। ऐसे ही कृष्णयादव गण के व्यक्ति थे, कंस अंधकवंशीय था। उसने निरंकुश मगधराज जरासंध की बेटी से विवाह किया और श्वसुर की देखादेखी अपना निरंकुश राज्य जमाने की कोशिश की। कृष्ण के हाथों अंततोगत्वा वह मारा गया।

सुमित्रानंदन पंत ने इसी प्रवृत्ति को अपनी बापू के प्रति नामक कविता में रखा है, जहाँ कंस को साम्राज्यवाद की तुलना में उपस्थित किया गया है। गांधी को मोहन का रूप माना गया है। किंतु गांधी का दर्शन अभी और विवेचन के योग्य है।

उपर्युक्त युद्ध मनुष्यों में स्तुत्य रहे, क्योंकि ये मुक्ति के युद्ध थे। कोई शस्त्र लेकर घर पर चढ़ आये और हमारा नाश करना चाहे तो हमें चुप बैठ जाना चाहिये या मर जाना चाहिये? हम तो कहेंगे कि शत्रु का

ध्वंस ही श्रेयस्कर है। हिटलर के नेतृत्व में जब जर्मनी ने रूस पर आक्रमण किया, रूसी युद्ध के लिये उठ खड़े हुए और उन्होंने अपनी रक्षा की। क्या हम कह सकते हैं कि जब रूस और चीन क्रमशः जर्मनी और जापान से युद्धरत रहे तब वे जो आत्मरक्षा कर रहे थे, वह हिंसा थी। नहीं।

किंतु गांधी ने चर्चिल को शस्त्र डाल देने की राय दी थी और असहयोग करना उचित बताया था। यह क्या ठीक होता? यह अत्यन्त गम्भीर प्रश्न है। और भी जटिल यों है कि जब काश्मीर पर पाकिस्तानियों ने आक्रमण किया था उस समय गांधी ने आत्मसमर्पण नहीं, युद्ध के लिये भारतीय सेना को प्रेरणा दी थी।

जब ऐसे प्रश्न आते हैं तब सोचने को बाध्य होना पड़ता है कि युद्ध रोकने की प्रवृत्ति जिसे अहिंसा कहते हैं उसकी वास्तविकता क्या है? कामायनी में 'प्रसाद' ने भी इस विषय पर चिंता की है—

यज्ञ समाप्त हो चुका तो भी
धधक रही थी ज्वाला
दारुण दृश्य! रुधिर के छींटें!
अस्थि खण्ड की माला!
वेदी की निर्मम प्रसन्नता
पशु की कातर वाणी;
मिलकर वातावरण बना था
कोई कुत्सित प्राणी।

× × ×

ये प्राणी जो बचे हुए हैं
इस अचला जगती के
उनके कुछ अधिकार नहीं
क्या वे सबही हैं फीके! (कामायनी पृ० ११६-१२६)

और पंत ने कहा है—

मानव को चाहिये यहाँ मनुजोचित साधन !
क्यों न एक हो मानव मानव सभी परस्पर
मानवता निर्माण करें जग से लोकोत्तर ?
(दो लड़के)

पंत ने इस व्यवस्था की खोखली परिस्थिति को पहचान लिया है और वे इससे आगे की चिंता करते हैं। किंतु जब हिंसा के द्वंद्व के ऐसे प्रश्न आते हैं तब उसकी मूल खोजना आवश्यक हो जाता है। अहिंसा है हिंसा न करना, अर्थात् दूसरे पर अत्याचार न करना। हिंसा केवल तलवार लेकर क्या किसी की गरदन काटने में सीमित है ? आप के घर में कोई आग लगा दे तो क्या वह हिंसा नहीं होगी ? एक बार महात्मा गांधी से एक व्यक्ति ने कहा था कि यदि एक पिल्ला आपके पीछे पड़ जाय और आप उसे पालना नहीं चाहें तथा आप उसे दूध रोटी नहीं देते तो क्या वह हिंसा नहीं होगी क्योंकि वह बिचारा भूखा रह जायेगा ? गांधीजी ने कहा कि नहीं। भगवान को इस पिल्ले का प्रबन्ध करना है, मुझे नहीं, उससे असहयोग करो, अपने आप वह अपना प्रबन्ध कर लेगा। यह उत्तर प्रकट करता है कि पिल्ला हिंसक था, गांधी नहीं, वरन् वह गांधी के पीछे पड़ कर गांधी को कष्ट दे रहा था। उन्होंने कहा कि इसका उत्तरदायित्व मुझ पर है ही नहीं। वह तो ऐसे था जैसे राह चलता कोई व्यक्ति किसी गृहस्थ के द्वार पर जाकर अपना आतिथ्य करवाना चाहे और गृहस्थ के मना करने पर उसे अत्याचारी और हिंसक कहे। किसी माता का पुत्र वेश्यागामी हो और माता वेश्या को हिंसक कहे तो क्या वह ठीक होगा ? इसका अर्थ हुआ कि जिसका उत्तरदायित्व है, यदि वह पूर्ण न करे, तो वह हिंसा ही होगी। हजारों मजदूर हैं। उन पर उनके बच्चों की जिम्मेदारी है। ऐसे हिंसक हैं यह मजदूर कि अपने बच्चों को भरपेट खाना तक नहीं खिला सकते। तो क्या हम उन्हें भी हिंसक कहेंगे ?

पंत ने ग्राम चित्र दिया है—

यहाँ खर्व नर (बानर ?) रहते युग युग से अभिशापित,
अन्न वस्त्र पीड़ित असभ्य, निर्बुद्धि, पंक में पालित।
यह तो मानव लोक नहीं रे, यह है नरक अपरिचित,
यह भारत का ग्राम, सभ्यता, संस्कृति से निर्वासित !
झाड़ फूंस के विवर,—यही क्या जीवन शिल्पी के घर ?
कीड़ों से रेंगते कौन ये ? बुद्धि प्राण नारी नर ?
अकथनीय क्षुद्रता, विवशता भरी यहाँ के जग में
गृह गृह में है कलह, खेल में कलह, कलह है मग में।

× × × ×

यहाँ अकेला मानव ही रे चिर विषएण जीवन्मृत !!

हिंसा का यह विश्लेषण जिस तथ्य को बताता है वह है कि मजदूर भूखा है विषम पूंजीवाद के कारण, किसान भूखा है सामंतवाद के कारण। वेश्या कुलटा है अपनी गिरी हुई सामाजिक परिस्थिति, भूख और विवशता के कारण। अर्थात् समाज का हिंसक धन है और धन का नियंत्रण करने वाले असली हिंसक हैं।

हिंसा किसी भी प्रकार की पाशविकता है, अहिंसा मनुष्य की सभ्यता और संस्कृति का विकास। हिंसा मनुष्य की जड़ता, बर्बरता, स्वार्थान्धता की प्रतीक है, अहिंसा सामाजिक सहायता, परोपकार और बुद्धि के विकास की परिचायक। युद्ध एक व्यापक हिंसा का दिखाई देने वाला परिणाम है। हिंसा असाम्य है। एक विशेष आर्थिक सामाजिक व्यवस्था का परिणाम है। व्यक्ति उसका माध्यम है। गीता के शब्दों में वह केवल निमित्त है। नियन्ता है समाज। कृष्ण ने जिसे नियन्ता कहा था वह ईश्वर था, भगवान था, किंतु जब वह अर्जुन के सामने आया था तब वह विराट् पुरुष था। वह प्रलय और सृष्टिधारक वेद का विराट् पुरुष था। वह चातुर्वर्ण्य का प्रतीक था और उस सामाजिक ढांचे का विरोध मृत्यु का

पर्याय था। हिंसा अहिंसा व्यक्ति तक सीमित नहीं है, वह समाज की वास्तविकता है। गाँधी, ताल्सताय, बुद्ध, जैन तीर्थंकर और मध्यकाल के अनेक सन्त इतने अहिंसावादी होकर भी इस समाज की हिंसा को क्यों कर समाप्त नहीं कर सके? वे मूर्ख थे या अदूरदर्शी? अथवा संसार एक मूर्ख मण्डली है जो प्रभावित होकर भी भूल जाती है।

आज के विषम पूंजीवाद में मनुष्य सुखी नहीं है, कल सामंतकाल में भी न था। परसों बर्बर दास युग में भी विषमता थी। इसका कारण रहा है—मनुष्य का मनुष्य द्वारा शोषण। प्रकृति से संघर्ष करने के उत्पादन के साधनों का विकास और नियंत्रण निरंतर एक मनुष्य द्वारा दूसरे मनुष्य का शोषण चाहता था। लाभ हिंसा की जड़ है। इसी के कारण विषमता है। अहिंसा की वास्तविकता मनुष्य की मानसिक प्रवृत्ति मात्र नहीं। आज तक के मेधावी सन्त इसीलिये पूर्णतया सफल नहीं हो सके कि उन्होंने जड़ को नहीं पकड़ा। वे पकड़ भी नहीं सकते थे क्योंकि उनके पास वैज्ञानिक चिंतन नहीं था। इतिहास एक विशाल क्रम विकास है, मनुष्य की जययात्रा है और वह निरंतर जय करता जायेगा। निरवधि विस्तार का गहन अपरिमेय गौरव ही उसकी संस्कृति की एक मात्र पताका है। वह व्यक्तियों के एकांतिक प्रयत्नों से नहीं, समाज के प्रयत्नों से, समाज द्वारा, समाज के लिये ही सुलभ हो सकेगी। मनुष्य समाज के लिये कल्याणकारी योजना ही अहिंसा है, जो तब ही प्राप्त हो सकेगी जब व्यक्ति को पूर्ण विकास करने की सहूलियत हो, जब व्यक्ति की पूर्ण प्रतिष्ठा हो।

व्यक्ति की प्रतिष्ठा समाज के सुंदरतम होने तक नहीं हो सकती—चींटी के प्रति पंत ने लिखा है—

> चींटी है प्राणी सामाजिक,
> वह श्रमजीवी, वह सुनागरिक!

× × ×

हा मानव !
देह तुम्हारे ही है, रे शव !
तन की चिंता में घुल निशि दिन
देह मात्र रह गये, दबा तिन !

× × ×

निद्रा, भय, मैथुनाहार
—ये पशु लिप्साएँ चार—
हुई तुम्हें सर्वस्व सार ?
धिक् मैथुन— आहार— यन्त्र !
क्या इन्हीं बालुका भीतों पर
रचते जाते हो भव्य अमर
तुम जन समाज का नव्य तंत्र ?

किंतु पंत ने यहाँ भी आत्म विधानक का रूप पकड़ा है, पंत में यह द्वंद्व कभी नहीं छूट सका।

अतः यहाँ हमने अहिंसा का वास्तविक अर्थ देखा। किंतु जिस समाज के उत्पादन के साधन, वितरण शोषक वर्ग के हाथों में रहते हैं, वहाँ अहिंसा भी उच्च वर्ग अर्थात् शोषक वर्ग अथवा उच्च वर्ण के हाथ की कटपुतली हो जाती है, जैसा कि प्राचीन काल में बुद्ध के बाद हुई और अब भी है। अहिंसा अथवा कोई भी अच्छाई यदि सामाजिक स्तर पर लागू नहीं होती, तो वह व्यक्तिगत वस्तु हो जाती है। व्यक्ति उसका अपनी सहज व्यवस्था के अनुरूप प्रयोग करता है। गांधी ने यही किया था। गांधी के समय में उत्पादन के साधन भी बदल गये थे। इस बात ने गांधी को मध्यकालीन संतों की भाँति विशुद्ध संत भी नहीं रहने दिया। वह कुछ ऐसा संत था जैसे हजरत मूसा थे, जो यहूदियों के उपकार में लगे हुए थे। गांधी अपने इस द्वन्द्व के कारण ही भावना मात्र के कारण

नहीं, वरन् ठोस आधारों पर विभाजन के बाद अपने मानवतावाद के लिये मुसलमानों के लिये लड़ता रहा था।

गाधी का विवेचन करके हमें यह ज्ञात हुआ कि अभी तक जो तथ्य गांधी के विषय में प्रचलित थे, वे एकांगी थे। किसी भी देश की जनता मूर्ख नहीं हुआ करती। उसके ऐतिहासिक बंधन होते हैं। जब रूसी कम्युनिस्टों ने पूर्व के मुस्लिम देशों में साम्यवाद फैलाया था, तब वहाँ की पुरानी व्यवस्था में पली जनता को अपनी बात सुनाने के लिये, उनका विश्वास प्राप्त करने के लिये, रूसी कम्युनिस्टों ने भी उनके साथ नमाज पढ़ी थी। इसका अर्थ यही था कि वे लोग उन्हें धीरे-धीरे अपनी ओर लाना चाहते थे, ज्ञान की ओर लाना चाहते थे। उन्हें अंधकार से निकालना चाहते थे। लेनिन ने इसीलिये कहा था कि यदि जनता को ड्यूमाज से आशा है, तो पहले ड्यूमाज दो, ताकि अपने अनुभव से ही वह उसकी व्यर्थता को भी जान सके।

सुमित्रानंदन पंत ने गांधी के विषय में इस सूक्ष्म तथ्य को देखा है। अपनी युगांत की 'बापू के प्रति' में पंत का दृष्टिकोण गांधी के प्रति दूसरा है और ग्राम्या में महात्मा जी के प्रति दूसरा।

यहाँ हम स्वयं पंत के शब्द का उद्धरण देते हैं—

"इस बात को ग्राम्या में मैं निश्चयपूर्वक लिख चुका हूँ—"

'गत संस्कृतियों का, आदर्शों का था नियत पराभव !'
'वृद्ध विश्व सामंतकाल का था केवल जड़ खंडहर !'

'युगांत' के 'बापू' ('बापू के प्रति' में) सामंत युग के सूक्ष्म के प्रतीक हैं, 'ग्राम्या' के 'महात्मा' ('महात्माजी के प्रति' में) ऐतिहासिक स्थूल के सम्मुख 'विजित नर वरेण्य' हो गये हैं, जो वर्त्तमान युग की पराजय है [१]

'हे भारत के हृदय, तुम्हारे साथ आज निःसंशय

चूर्ण हो गया विगत सांस्कृतिक हृदय जगत का जर्जर !—भावी सांस्कृतिक क्रांति की ओर संकेत करता है।

हम सुधार और जागरण काल में पैदा हुए, किंतु युग प्रगति से बाध्य होकर, हमें संक्राति युग की विचारधारा का वाहक बनना पड़ा है [२] अपने जीवन में हम अपने ही देश में कई प्रकार के सुधार और जागरण के प्रयत्नों को देख चुके हैं। उदाहरणार्थ, स्वामी दयानंद जी सुधार-वादी थे जिन्होंने मध्य युग की संकीर्ण रूढ़ि रीतियों के बंधनों से इस जाति और संप्रदायों से विभक्त [३] हिंदू धर्म का उद्धार करने की चेष्टा की। श्री परमहंस देव और स्वामी विवेकानंद का युग भारतीय दर्शन के जागरण का युग रहा है [४] उन्होंने मनुष्य जाति के कल्याण के लिये धार्मिक समन्वय करने का प्रयत्न किया। डा० रवीन्द्रनाथ का युग विश्व-व्यापी सांस्कृतिक समन्वय पर जोर देता रहा है।

'युग-युग की संस्कृतियों का चुन तुमने सार सनातन
नव संस्कृति का शिलान्यास करना चाहा भव शुभकर'

कवीन्द्र की प्रतिभा के लिये भी लागू होता है। वह एक स्थान पर अपने बारे में लिखते भी हैं, "मैं समझ गया कि मुझे इस विभिन्नता में व्याप्त एकता के सत्य का संदेश देना है।" डा० टैगोर के जीवन-मान भारतीय दर्शन के साथ ही मानव-शास्त्र (एंथ्रापोलॉजी), विश्ववाद और अंतर्राष्ट्रीयता के सिद्धान्तों से प्रभावित हुए हैं। उनके युग का प्रयत्न भिन्न-भिन्न देशों और जातियों की संस्कृतियों के मौलिक सार भाग से मानव जाति के लिये विश्व संस्कृति का पुनर्निर्माण करने की ओर रहा है। वैज्ञानिक आविष्कारों से मनुष्य की देश काल जनित धारणाओं में प्रकारांतर उपस्थित हो जाने के कारण एवं आवागमन की सुविधाओं [५] से भिन्न-भिन्न देशों और जातियों के मनुष्यों में परस्पर का संपर्क बढ़ जाने के कारण उस युग के विचारकों का मानव जाति के आंतरिक (सांस्कृतिक) एकीकरण करने का प्रयत्न स्वाभाविक ही था। महात्माजी भी [६] इसी

प्रकार, विकसित व्यक्तिवाद के मानों का पुनर्जागरण कर, भिन्न-भिन्न सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियों के बीच संसार में, सामंजस्य स्थापित करना चाहते हैं। किन्तु इस प्रकार के एक देशीय, एक जातीय और अंतर्राष्ट्रीय प्रयत्न भी इस युग [७] में तभी सफल हो सकते हैं जब उनको परिचालित करने वाले सिद्धांतों के मूल विकासशील ऐतिहासिक सत्य में हों। [८]

'विश्व सभ्यता का होना था नखशिख नव रूपांतर,
रामराज्य का स्वप्न तुम्हारा हुआ न योंही निष्फल !'

आने वाला युग जीवन के प्रति मनुष्य के दृष्टिकोण में आमूल परिवर्त्तन लाना चाहता है [६]

(पृ० १२–१३ आधुनिक कवि २. संवत् १६६८ हिं० सा० सम्मेलन प्रयाग)

कोष्ठकों में मैंने जो अंक रखे हैं वे महत्त्वपूर्ण स्थल हैं। [१] यहाँ पंत ने अपने दृष्टिकोण के भेद को देखा है। सामंत युग के सूक्ष्म के प्रतीक 'बापू' का अपनत्व नहीं रहता, बौद्धिक मनन उन्हें महात्मा का नाम देता है, जिसमें स्नेह का स्थान सम्मान लेता है, और उन्हें 'पराजित, नर श्रेष्ठ' कहता है।

(२) पंत ने जागरण काल और प्रगति काल को ले जाने वाले संक्रान्ति काल का भेद बिल्कुल स्पष्ट किया है। यह तथ्य स्वयं उनके काव्य के भेद अथवा विकास को स्पष्ट करता है।

(३) पंत ने अपनी भाषा में यहाँ वर्ण भेद वाले समाज की व्यवस्था को प्रकट किया है। दयानंद ने भी यही चेष्टा की थी। दयानंद के समय में भारतीय पूँजीवाद के नेत्र खुलना चाहते थे। वेद में जिस प्रकार चातुर्वर्ण्य को विराट् के अगों के रूप में स्वीकार किया गया था, कलियुग लगने के बाद उस चातुर्वर्ण्य का रूप बदला था। बर्बर व्यवस्था में त्रिवर्ण केवल आर्य था, सामंत काल में अनार्य आर्यों की अंतमुर्क्ति में तदनुसार त्रिवर्ण त्रिवर्णों में मिल गये, चौथा वर्ण सबका ही मिल-जुल कर एक

हो गया। किंतु यह सब पहली अवस्था में जातीय (Racial) था, दूसरी अवस्था में जन्मना (Caste) आधार पर हुआ। दयानंद के समय में उठते हुए पूंजीवादी मान दण्ड नई व्यवस्था चाहते थे। धन ही पूंजीवाद की सम्मानित वस्तु है। वह जन्म के गौरव को भी मिटा देना चाहती है। तदैव उस समय पुकार उठी कि कर्मठा चातुर्वर्ण्य होना चाहिये। उसके बाद युग इतनी शीघ्र बदला कि वह बात नया रूप ले गई। परन्तु पंत ने इसे ठीक प्रकट किया है।

(४) दार्शनिक जागरण वेदांत का पुनरुद्धार था, किंतु वह बौद्धों के शून्य का पर्याय बन कर ब्रह्म के रूप में प्रकट नहीं हुआ, उसने जीवन को कर्मठ बनाने की प्रेरणा दी। क्योंकि वेदांत वास्तव में वेदांत नहीं रहा। पंत ने धार्मिक समन्वय की बात योग्य रूप में ही उठाई है।

(५) यहाँ पंत उत्पादन के साधन आदि बदल जाने को अपनी भाषा में प्रकट करते हैं।

(६) विकसित व्यक्तिवाद की बात वही है जिस पर हम ऊपर विशद विवेचन कर आये हैं।

(७) इस युग से पंत ने नवयुग की आर्थिक और समस्त व्यवस्था का निरूपण किया है जो बदली हुई है।

(८) ऐतिहासिक सत्य से यहाँ तात्पर्य है उस नवीन व्यवस्था का जो पुरानी मान्यता से नहीं बन सकती, जिसमें मनुष्य को सर्वाङ्गीण उन्नति करनी है।

(९) यह उन्नति पुरानी मान्यताओं के सामने एक आमूल परिवर्त्तन है, जहाँ व्यक्ति के स्थान पर समाज की महत्ता है।

यहाँ यह दुहरा देना आवश्यक है कि पंत मार्क्सवादी नहीं हैं, न वे कभी थे। उन्होंने मानवतावादी दृष्टिकोण से मार्क्स को पढ़ा है। किंतु प्राचीन इतिहास की वर्ण-भेदीय व्यवस्था को ठीक से समझने के कारण उन्होंने ठीक व्याख्या की है, वर्गभेदीय व्यवस्था के दर्शन से वे तादात्म्य

नहीं कर सके हैं और वे अध्यात्मवाद की ओर खिंच गये हैं। किंतु जिस रूप में वे आध्यात्मवाद की ओर गये हैं, उसका आधार भी मानवतावाद है। अतः भयंकर नहीं है, यह अवश्य है कि स्वयं सामाजिक मानदण्डों की ओर न आकर, वे व्यक्तित्व के विकासवाद की ओर अग्रसर हुए हैं।

पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कबीर के विषय में जो लिखा है, जिस प्रकार वर्ग मान्यताओं का विश्लेषण किया है वह भी भारतीय व्यवस्था के गंभीर अध्ययन से। अधुना जो लोग मार्क्स को रट कर उसकी हत्या करते हैं, उन्होंने केवल अवसरवाद और कुत्सित समाज शास्त्र को जन्म दिया है। 'वे नहीं जानते वे क्या कर रहे हैं, अतः वे क्षमा के पात्र' भले ही हों, परन्तु उनसे हमारा चिंतन आगे नहीं बढ़ता ! हजारीप्रसाद ने भी वर्ण व्यवस्था को समझ लेने के कारण ही इतना स्पष्ट विवेचन किया है। पंत ने भी इसी प्रकार व्यवस्था की मूल धारा को समझा है और यह उनका एक प्रशंसनीय कार्य है।

युगांत की कविता में पंत ने व्यक्ति की प्रशंसा की है, किंतु ग्राम्या की कविता में व्यक्ति से भी ऊपर समाज को लिया गया है। पुरातन विगत पर युगांत में ही पंत ने विजय प्राप्त करना प्रारंभ किया था, किंतु ईश्वर-वाद उनसे कभी नहीं छूटा। जिस 'ताज' नामक कविता का बहुत उद्धरण दिया जाता है, वहाँ भी पंत अपनी विचार धारा से ही चले हैं।

'हाय ! मृत्यु का ऐसा अमर, अपार्थिव पूजन'

कहने वाले कवि ने अंत किया है—

'मृतकों के हैं मृतक, जीवितों का है ईश्वर !'

यही नहीं अपनी बाद की कविता 'चींटी' का अंत भी इसी प्रकार किया है—

पूर्ण तन्त्र मानव, वह ईश्वर,
मानव का विधि उसके भीतर !

युगांत की कविता 'बापू के प्रति' में यह भीतर का विधि भी उपस्थित

है। कवि ने प्रथम गांधी के रूप का वर्णन किया है। कहा जाता है कि सुकरात एक कुरूप व्यक्ति था, किंतु यूनान के सुन्दर तरुण उसके चारों ओर आश्चर्य से आँखें फाड़े पराजित से खड़े रहते थे। वे उससे अभूतपूर्व रूप से प्रभावित थे। कैतिलस ने कहा था। जो हो, मैं तुम्हें निश्चय दिलाता हूँ, सुकरात ! कि मैंने 'पदार्थ' (matter) पर विचार कर लिया है और गंभीर चिंतन के बाद मैं समझता हूँ कि हिरैक्लिटस का सिद्धांत बहुत करके सत्य के सन्निकट है।'

सुकरात ने उत्तर दिया था। 'फिर कभी, मेरे मित्र ! जब तुम लौटोगे, तब मुझे तुम सिखा सकोगे।'

और यही कारण था कि यूनान सुकरात से दब गया था। यूनान के दार्शनिक भी सोचते थे कि इस कुरूप व्यक्ति में क्या है जो वह इतना प्रभावित करता है ? यही पंत ने सोचा है। गांधी सुन्दर नहीं था। फिर उसकी शक्ति क्या थी जो उसने व्यक्तित्व के बल पर लोगों को प्रभावित किया था ?

पंत ने उसे 'शुद्ध बुद्ध आत्मा केवल' कहा है। शुद्ध आत्मा तो उसके चारित्रिक विकास का प्रतीक है। बुद्ध का अर्थ है जागरूकता। क्या गांधी जागरूक था ? था तो और उसी की व्याख्या है—हे चिर पुराण, हे चिर नवीन !

व्यक्तित्व विकास का यह रूप सदैव ही प्राचीन परिपाटी के अनुसार गांधी में मिलता है और वह नवीन इसलिये है कि उस प्राचीन का नवीनतम संस्करण है। 'पूर्ण इकाई जीवन का' वह बना है क्योंकि व्यक्ति को समस्त प्राचीन दर्शन 'असार भवशून्य' का केन्द्र मानता रहा है। किंतु पंत ने इतने पर ही विश्राम नहीं लिया। उसने इस सबको आधार मात्र, माना है, और वह वही आधार है जिस पर 'भावी की संस्कृति समासीन' होगी।

प्रश्न उठता है कि क्या 'व्यक्तित्व के विकासवाद' के आधार पर

'नवीन संस्कृति समासीन' होगी ? सुमित्रा नन्दन पंत ने इसका स्पष्ट उत्तर दिया है। 'तुम मांस, तुम्हीं हो रक्त अस्थि, निर्मित जिससे नवयुग का तन !' कह कर उसने प्रगट किया है कि वह गतयुग अपने समस्त स्थूल जगत को यहीं छोड़ता है। उसी 'देह' को पंत ने नहीं लिया। देह बदलेगी, आकार रूप बदलेगा। परन्तु ईंट पत्थर तो यहीं रहेंगे। या यों कहें कि लेनिन के अनुसार 'थ्येटर बिगाड़ो मत, नष्ट मत करो, इसे ठीक करो, इसमें नये नाटक खेलो !'

फिर पंत ने महात्मा गांधी के व्यक्तित्व की प्रशंसा की है कि तुमने निःस्वत्याग किया है। यह जो 'भस्म-काम तन' है इसकी 'रज' से 'जग पूर्णकाम' होगा। इस सामंतीय दंभ और हिंसा के विश्व में 'सत्य-अहिंसा' के 'ताने-बाने' प्रारम्भ हुए हैं, नवयुग में 'जग-जीवन' 'मानवपन' बीनेगा।

गांधी ने नवीन संस्कृति की ओर लोगों को जाने या अनजाने इंगित किया। सामंत कालीन 'नग्न पशुता' को उसने ढँका। और पंत ने वर्ण भेद को प्रकारांतर से यह उल्लिखित किया है कि 'हे अदूत' अर्थात् सामंतीय ढांचे से अलग और दलितों की भाषा के प्रतीक गांधी ने 'छूतों' से भरे संसार को जगाया है। वह 'मृत संस्कृतियों के विकृतभूत' गांधी ने नष्ट करने को पग उठाया था।

'सुखभोग खोजने आते सब' में पंत ने सामंतीय व्यवस्था के अभिजात्य की ओर इंगित किया है जिन्हें सुख प्राप्त करने के साधन पर्याप्त रूप से प्राप्त हैं। परन्तु बुद्ध के समय से ही व्यक्तियों ने 'सुखभोग' के स्थान पर 'सत्य खोज' को प्रधानता दी है (यह सत्य है कि यह व्यक्ति तत्कालीन विषमता से प्रभावित या ग्रस्त थे, जैसे बुद्ध शोषकवर्ग के होकर भी द्रवित हुए थे, या रामानुज शोषकवर्ण के होकर भी करुणा से भर गये थे, या मार्क्स उच्चवर्ग के होकर भी दलितों की ओर चले गये थे।) इस सत्य खोज का कारण महत्त्वपूर्ण है। समाज की विषमता देखकर जब बुद्धिमान व्यक्ति व्यवस्था को ढूँढ़ते हैं, अपने वर्ग का बचाव देखने की

चेष्टा करते हैं। बुद्ध ने अपने वर्ग के जीवन की निस्सारता और तत्कालीन समाज की विषमता को दूर करने के लिये हल खोजने का यत्न किया था। रामानुज ने ब्राह्मण अत्याचार और दलितों में ब्राह्मणों के प्रति घृणा को लेकर हल ढूँढ़ा था। मार्क्स ने अपने समय की विषमता को देखा था और समाज को अच्छा बनाने का यत्न किया था। तीनों ने ही यह देखा कि वर्तमान व्यवस्था अनुपयुक्त है, उसका बदलना आवश्यक है और उन्होंने अपने व्यक्तिगत लाभ (या संतोष) के लिये उस वर्ग या वर्ण का साथ दिया जो आगे आने वाला था, जो समाज की उन्नति का साधन होने वाला था। (यहाँ प्रत्येक बौद्धिक रूप से जागरूक नेता के ऐतिहासिक बंधनों को याद रखना आवश्यक है, अन्यथा कुत्सित समाजशास्त्र का प्रारम्भ हो जायगा) गांधी ने भी यही 'सत्य खोज' अपनाई थी और भारतीय जीवन के वर्ण और वर्गभेद के वैषम्य ने जो द्वंद्व खड़ा किया था, उसने उन पर ऐतिहासिक बंधन भी लगा दिये थे। पंत ने उसे भी स्पष्ट किया है। गांधी ने 'प्रेमयुक्ति' 'विद्वेष घृणा से लड़ने को' अपनाई और अपने वरश्रम से 'विचार परिणीत उक्ति' का स्वावलम्बन दिया। आगे गांधी को व्यक्ति पक्ष में 'आसक्त,' किंतु समाज पक्ष में 'विश्वानुरक्त' कहा गया है। और गांधीवाद अथवा समस्त भारतीय चिंतन के सार को पंत ने प्रकट किया है जिसमें आभावात्मकता ही जीवन की शक्ति बनाकर स्वीकार कर ली गई है—'सर्वस्वत्याग को ही मुक्ति बना दिया।'

गांधीवाद का मूल समझौतावाद था और इसीसे कहा है—'सहयोग सिखा शासितजन को शासन का दुर्वह हरा भार ! सत्याग्रह किया, मिथ्या बल प्रहार रोका।' परन्तु शासन का भार तो हल्का नहीं हुआ ? नहीं हुआ यह तो घोर सत्य है, परन्तु भारत जाग उठा और जिसे कवींद्र के शब्दों में 'अचलायतन' का सा भार दबाये था, भय का भार हट गया, और जाति उठ खड़ी हुई। गांधी ने अत्याचार को अत्याचार कहा और दासत्व को दासत्व। उसने दासत्व और वर्ण व्यवस्था के अत्याचार, साम्राज्यवाद

के अत्याचार को स्पष्ट जनता के समीप पहुँचा दिया। भारत को निश्चय ही उसने जगाया। गांधी ने भारतीय पुनर्जागरण की उसी चेतनधारा को आगे बढ़ाया और आन्दोलनों के माध्यम से उसने लोगों को जाग्रत अवश्य कर दिया।

किंतु गांधी का अधिक महत्व उसके व्यक्तिवाद के विकास में था। पंत ने 'मत्राभिभूत युग' में जब 'मानव का परित्राण' कहा है, और गांधी के माध्यम से ही, तब वह एक विरोधाभास लगता है। परन्तु यह विरोध स्वयं गांधी का था, स्वयं पंत का है। मशीन युग की परवशता को सामंतीय मानवतावाद के माध्यम से सुलझाने का यह प्रयत्न भारतीय चिंतन ने किया है और प्रेमचंद भी इसीलिये महाजनी की तुलना में सामंतीय व्यवस्था की प्रशंसा कर गये हैं कि पहले सब प्रकार का शोषण होते हुए भी मनुष्य को मनुष्य से एक मानवीय सम्बन्ध भी था, जो अब है ही नहीं। इस प्रकार समझने में न गांधी का दोष था, न प्रेमचंद का, न पंत का है। तीनों ही मानवतावादी हैं। और तीनों के समय में पूँजीवाद विदेशी था* और क्रूर था। सामंतकाल में मनुष्य ही मनुष्य के उत्पादन का काफी अंश तक साधन था, दूसरे यंत्र न होने के कारण शोषक वर्ग भी अपनी शक्ति को असीम नहीं समझता था, जब कि पूँजीवादी युग में यंत्र ने उत्पादन ही सहज नहीं किया, मनुष्य को प्रकृति पर भी विजय अधिक रूपेण दिलाई और उसका दृष्टिकोण बदल गया।

पंत ने सब कुछ कहा भी गांधी को फिर भी 'अपवाद' स्वरूप ही माना है, जो अपने व्यक्तित्व और 'परमार्थ सार' में लगे हुए थे। गांधी के त्याग को यहाँ 'निजत्व की हार' मानकर पंत ने उन्हें 'अजित' माना है, क्योंकि 'सार्वजनिकता जयी' कहने में वे आन्योन्याश्रय मानते हैं। यह विचार आगे चलकर पंत में बदल गया है जहाँ ग्राम्या में उन्होंने इसी सार्वजनि-

---

* पंत की रचनाओं का समय १९४७ ई० के बहुत पहले है।

कता के प्रतिपक्ष में रखकर गांधी के व्यक्तित्व की 'जय' कहकर, दूसरे पक्ष में उन्हें 'विजित' कहकर पुकारा है।

'मानव मानवता का विधान', उसी मानवतावाद की पुनरुक्ति बनकर यहाँ भी प्रकट हुआ है जो पंत में बराबर रहा है।

साम्राज्यवाद कंस था। मानवता बंदिनी थी। गांधी ने मानव आत्मा को मुक्त किया, अर्थात् दासता के भय को दूर किया।

शेष कविता प्रायः यही आधार लिये हुए है। ग्राम्या की 'महात्माजी के प्रति' में अपनी बौद्धिक जागृति का पंत ने अधिक परिचय दिया है और यहाँ उनके चिंतन में एक मूल परिवर्तन हुआ है। यहाँ इस कविता को देखना आवश्यक है क्योंकि यह कविता कुछ पाठकों को भ्रम देती है। दोष पंत का नहीं, पंत की विचार धारा को, नहीं समझने का है।

निर्वाणोन्मुख आदर्शों का अंतिम दीपशिखोदय बनकर गांधी प्रकट हुआ है अर्थात् वे आदर्श जो निर्वाणोन्मुख है, उनके दीप में वह अंतिम-शिखा की भाँति जमा है। उसके बाद वह दीपक बुझ जायगा। अंतिम दीपशिखा से प्रकट होता है कि कई शिखाएँ पहले भी जल चुकी हैं। अब यह पुरातन विचारों को प्रगट करने वाला अंतिम व्यक्ति है। यह बापू नहीं है जिससे कवि हृदय का सान्निध्य अनुभव करता हो, वरन् यह एक महान् आत्मा है जिसे कवि देख रहा है, उसके श्लाघ्य को श्लाघ्य और विगत जर्जर को विगत जर्जर कह रहा है।

बुझते हुए दीपक की चमक से बड़ी सी लौ उठी है और उसने अधिक प्रकाश भी फैलाया है। बुझने के पहले सारी शक्ति संचित करके शिखा उठती है, जैसे वह एक (Climax) चलोत्कर्ष होता है। किंतु पुराने आदर्शों का तिरस्कार ही मानव आत्मा की विजय है, अतः आज जो तुम्हारी पराजय है कि तुम गत आदर्श के रूप में दूर होकर मानव आत्मा का जय को पथ बता रहे हो, इसीसे तुम्हारी पराजय भी जय है क्योंकि लोकोज्ज्वल है, लोक का कल्याण करने वाली है।

गांधी मानव की आत्मा का प्रतीक है। वह आदर्शों से ऊपर है। आदर्शों से ऊपर होने की भावना स्पष्टीकरण चाहती है। हम ऊपर देख आये हैं कि विभिन्न सम्प्रदायों के आचार्यों को भारतीय संस्कृति ने उनके विभेदों के रहते हुए भी महान् माना है। इसका कारण हैं उनके व्यक्तिगत जीवन की पवित्रता। भारतीय चिंतन ने अच्छे से अच्छे विचारो के प्रतिपादक की भी व्यक्तिमूलक निर्बलता को क्षम्य नहीं कहा है। व्यक्ति की इस पवित्रता के कारण ही यहाँ विभेदों को भुलाकर भी व्यक्ति की प्रशंसा की गई है। पंत ने यही तथ्य प्रकाशित किया है और 'उद्देश्यों से महान, कहते समय भी इसी का प्रतिपादन किया है कि व्यक्तित्व के विकास के प्रभावशाली कारण से ही गाधी को इतनी व्यापकता से स्वीकार किया गया है। 'निज यश से विशद' कहकर कवि ने गांधी के उस व्यक्तित्व की ओर ध्यान दिलाया है, जो व्यक्तिवाद की त्याग की वह कल्याण कामना है जहाँ व्यक्ति यश से प्रेरित होकर नहीं, अपने सिद्धान्तों से प्रेरणा पाकर कार्यरत होता है। इसीसे गांधी 'चिरंतन' है, क्योंकि उसके जीवन का यह पक्ष आगे भी प्रभाव डालेगा और आगे बढ़ने की प्रेरणा मनुष्य को देता रहेगा।

गांधी स्वयंसिद्ध नहीं है। वह लोकसिद्धि का एक महानतम साधक अवश्य है। इसीसे वह नरश्रेष्ठ विजित है, पराजित है और 'गणजन विजयी साधारण' है। साधारण प्राणजन विजयी है।

गांधी ने युग-युग की संस्कृतियों का सनातन सार चुनकर नव संस्कृति का कल्याणकारी शिलान्यास करना चाहा। कवि ने यहाँ 'शिलान्यास किया' नहीं लिखा है। उसका कथन इतना भर है कि गांधी ने 'करना चाहा।' युगों के वैभव वाहन को साम्राज्यवाद ने ठुकरा दिया। ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने समस्त प्राचीन मान्यताओं को गिरा दिया। किंतु उस ठोकर से जनता का मन मुक्त हो गया, अंधविश्वास का मोह उसके मन पर से उतर गया। पुराने आधारों के जाने पर नया विचार उसके सामने स्पष्ट हो गया।

गांधी ने जातिशव को आत्मशक्ति से जीवन बल दिया। यहाँ कवि ने स्वीकार किया है कि भारतीय परम्परा में व्यक्तित्व विकास का भी अपना स्थान था और उसने अपना ऐतिहासिक कार्य किया। क्योंकि विश्व सभ्यता का नखशिख रूपान्तर होना था, गांधी ने जो रामराज्य का स्वप्न देखा, वह इसीलिये निष्फल नहीं गया। गांधी का व्यक्तिवादी स्वर इसी लिये व्यर्थ नहीं हुआ क्योंकि समाज और जनता ने अपने नये ध्येय को प्राचीन अंधविश्वासों से निकलकर पहचान लिया।

परन्तु विकसित व्यक्तिवाद के मूल्यों का तो विनाश निश्चय था ही, क्योंकि सामंतकाल की पुरानी दुनियाँ केवल एक जड़ खँडहर बन कर पड़ी हुई थी। गांधी भारत का हृदय था, क्योंकि भारत की छवि उसमें प्रतिबिंबित थी, किंतु अब वह हृदय भी बदल चला। गांधी के साथ ही निःसंशय रूप से जगत का विगत अर्थात् प्राचीन सांस्कृतिक हृदय भी चूर-चूर हो गया अर्थात् समस्त मान्यताएँ बदल गईं।

पुरानी संस्कृतियों और आदर्शों की पराजय तो निश्चित थी। जिस मनुष्य की आत्मा पर बंधन थे, वे दूर हो गए। गांधी ने नीति सत्यों के प्रयोग किये। किंतु भावों के वे आदर्श सामूहिक जीवन का हित सिद्ध नहीं कर सके।

यहाँ पंत ने लिखा है—

अधोमूल अश्वत्थ विश्व, शाखाएँ संस्कृतियाँ वर;

अश्वत्थ वृक्ष भारतीय चिंतन में बहुत प्राचीन है। इसी का वर्णन वेद में भी आया है। वेद में यह अधोमूल नहीं ऊर्ध्वमूल है। ऊर्ध्वमूल को तो किसी ने देखा नहीं, परन्तु इसके पर्णों के रूप में यह संसार स्थित है। वेद में इसके तने में यक्ष रहता है। संभवतः यक्ष चिंतन ने यह अश्वत्थ कल्पना आर्य चिंतन को दी है, क्योंकि अश्वत्थ मूलतः अनार्य उपासना का वृक्ष है। अश्वत्थ के साथ कालांतर में नाग और शिव, लांगूल महादेव और हनुमान इत्यादि का सम्मिलन हुआ है। अश्वत्थ के

नीचे चैत्य पूजा प्रारम्भ हुई। महाभारत काल से पहले चैत्य पूजा का उल्लेख है। चैत्य पूजा निश्चय ही यक्षों की उपासना पद्धति है। वेद के बाद उपनिषद् में भी इस ऊर्ध्वमूल वृक्ष का वर्णन है। कालांतर में गीता में भी इसका उल्लेख है। किंतु पंत में आकर वह ऊर्ध्वमूल नहीं रहा है। वह अधोमूल है। उसकी जड़ें धरती में हैं। वह पृथ्वी में से ही उपजा है। ग्राम्या से पहले ही पंत ने लिखा था—

मिट्टी का गहरा अंधकार,
डूबा है उसमें एक बीज—
वह खो न गया, मिट्टी न बना,
कोदों, सरसों से क्षुद्र चीज।

आकाश के गहनांधकार का स्थान मिट्टी के अंधकार ने ले लिया है और जो बीज उसमें डूबा है वह जीवन की चेतना है, अतः अपनी सत्ता को वह लय नहीं कर देता, जीवित रहता है और यद्यपि वह देखने में बहुत ही सूक्ष्म भी है। कोदों और सरसों से भी क्षुद्र चीज अपनी एक अलग सत्ता रखती है।

उपनिषद् में भी न्यग्रोध बीज में न्यग्रोध के छिपे रहने का चिंतन है। वही पंत में भी है—

उस छोटे उर में छिपे हुए
हैं डालपात औ' स्कंधमूल
गहरी हरीतिमा की संसृति
बहु रूप रंग-फल और फूल!
वह है मुट्ठी में बंद किये
वट के पादप का महाकार,

ग्राम्या में वह बीज निकला है। वृक्ष फलफूल रहा है, संस्कृतियाँ बन कर पत्रपर्ण फैले हैं। पंत ने निराकार और अरूप प्रतीक को एक ठोस रूप दिया है और यह केवल एक मानववादी कवि की चेतना हो सकती है

जिसने जीवन के पल्लवित स्वरूप को आकाश से उतरा हुआ नहीं, धरती में से निकला हुआ स्वीकार किया है। और वह स्पष्ट कहता है—

वस्तुविभव पर ही जनगण का भाव विभव अवलंबित।

यहाँ कवि ने वस्तु जगत को जो मूल महत्ता दी है, वह किसी प्रकार के भी संशय नहीं रखती।

पंत ने आगे वर्णन किया है कि यदि गांधी जग में वस्तु सत्य का आवाहन भी करता, तो उसका प्रथम विरोध यह निर्धन भारत ही करता। वस्तु सत्य का आवाहन जीवन की समस्त मान्यताओं को बदल डालना है। सामंतीय दार्शनिकता में रहने वाली जनता, जिसने शताब्दियों से अभावात्मकता को ही अपना ध्येय मानकर अंधविश्वास किया है, वह एकदम नवीन सत्य को स्वीकार नहीं कर पाती। सुधार करने वालों को कोरी पटिया पर नहीं लिखना चाहिये का सिद्धान्त है। वास्तव में यह सत्य है जैसा कि हम ऊपर लेनिन के समय की क्रान्ति के मुस्लिम देशों को देख चुके हैं। इतिहास भी अपने नियमन करता है। यदि यह सत्य न होता, तो कम्युनिस्ट भारत में कभी के शासक हो गये होते। उनका अभी तक शासक नहीं हो पाना यही प्रमाणित करता है कि यहाँ के ऐतिहासिक कारणों ने अभी पुरातनता को पकड़ रखा है। मध्यकालीन नैतिकता में पोषित अर्थात् रहने वाले शोषित जनगण, अपने भाव स्वप्नों की परख किये बिना, कैसे एकदम जाग्रत हो सकते थे?

परिवर्त्तन धीरे-धीरे होता है। प्रकृति भी धीरे-धीरे काम करती है। कभी-कभी प्रकृति छलाँग लेती है। क्रान्ति भी वह छलाँग ही है। किंतु छलाँग का अर्थ मानव सी क्रान्ति एकदम कई ऐतिहासिक दौरों को छोड़ नहीं जा सकती। वह उन्हें जल्दी-जल्दी समाप्त कर सकती है। जैसे रूस ने मध्यवर्गीय क्रान्ति के कुछ महीने बाद ही सर्वहारा क्रान्ति कर दी। या चीन ने जनतांत्रिक क्रान्ति के बाद अब शीघ्रता से सर्वहारा राज्य व्यवस्था की ओर पग उठाया है। वे देश जो दूसरे देशों द्वारा मुक्त कराये जाते हैं

उनका इतिहास भी इस नियम का अपवाद नहीं है, केवल समय और बंधन कम हो जाते हैं।

कवि ने गांधी के सत्यान्वेषण मात्र को सफल स्वीकार किया है, बाकी सबको परिवर्त्तन के पथ पर चलते हुए देखा है।

गांधी पूर्ण पुरुष है, क्योंकि कवि की मान्यता में मानववादी चिंतन पूर्णता का प्रतीक है। कवि गांधी को इसीलिये विकसित मानव कह कर संबोधित करता है।

अतः हम स्पष्ट देखते हैं पंत ने गांधी की व्याख्यात्मक प्रशंसा की है और पंत के सामने दो स्तर हैं। एक व्यक्ति का स्तर है, दूसरा सामाजिक। गांधी को पहले कवि ने व्यक्तित्व के स्तर से देख कर अपना सान्निध्य प्रकट किया है, परंतु दूसरे बौद्धिक रूप में, सामाजिक रूप में। कवि ने गांधी को व्यक्ति रूप में विजयी ठहरा कर भी सामाजिक रूप में 'विजित' कहा है।

पंत के काव्य में हमें इसी दो स्तरों के जीवन को समझना आवश्यक है। पंत ने इसे पूर्णतया माना है कि व्यक्ति के श्रेष्ठतम यत्न भी जन-साधारण की समस्या को सुलझाने में असमर्थ रहे हैं। फिर भी वे व्यक्तित्व विकास वाले मार्ग पर चले गये हैं। उनके साथ संतोष का एक विषय है कि उनका ईश्वर अकर्मण्यता का प्रेरक नहीं है, उनकी भक्ति एकांगी होकर भी समाज के विकास में बाधा नहीं डालती। इसका मूल है उनका मानवतावाद। मानवतावाद भारत में वैष्णव सहिष्णुता के बल पर जीवित रहा है।

पंत जी ने अपने मध्ययुग के अध्ययन के फलस्वरूप जो व्यक्ति और समाज का तथ्य निकाला है, वह वर्ण व्यवस्था के जटिल बंधनों को समझ लेने के कारण ही, किंतु फिर भी उनमें, मेरी राय में, एक अभाव रह गया है। उन्होंने भी, [और आश्चर्य है] मध्यकाल में संस्कृति का एक रूप ही देखा है,—'तुलसी ने कृषि-मन युग अनुरूप किया निर्मित'। देश की पराधीनता उस समय भी सत्य थी और तुलसी ने उसका विरोध करके ही

अपना प्रभाव भी डाला था, किंतु उस समय भी निम्नवर्ग और उच्चवर्गों की भिन्न पुकार थी। सामंतीय ढाँचे को रखने वाली, दृढ़ करने वाली पुकार तुलसी में थी और कबीर, रैदास, सैना इत्यादि में इसका विरोध चल रहा था। यदि पंत जी इन दोनों के भेद पर ध्यान देते तो संभवत: व्यक्तित्व विकासवाद की विचारधारा के संबंध में उनका कोई और मत विकसित होता। यदि वे यह भी देख पाते तो उनके सामने ऐतिहासिक भौतिकवाद और भारतीय अध्यात्मदर्शन का भेद स्पष्ट हो जाता। एक निरंतर उन्हीं के शब्दों में—'दर्शन युग का अंत' है और विज्ञान के अन्वेषण के रूप में सत्य को समीप लाता है, दूसरा अपनी अभावात्मकता के आधार पर ही युगों से नेतिनेति कह कर जीवित रहा है, और आज जीवित रहना उसके लिये और भी कठिन हो गया है। पंत जिस भावी मानव की वाणी लिख रहे हैं, उसकी वाणी निस्संदेह अभी भावी में है। वैसे यूटोपिया के सर्जकों में पंत से भी पहले कई लोग रह चुके हैं।

भक्ति आंदोलन में तुलसीदास की देन

मध्यकाल का सांस्कृतिक उत्थान यदि एक ओर हाथ के कला कौशल में था तो दूसरी ओर संतों की वाणी में, जिसने समाज को जाग्रत करने का यत्न किया। लोगों का अनुमान है कि इस्लाम के प्रभाव के कारण ही भारत में भक्ति का आंदोलन प्रारंभ हुआ। वस्तुतः यह एक खण्ड सत्य है। भक्ति की धारा का प्रारंभ पाञ्चरात्र उपासना पद्धति से है, जिसने वैष्णव संप्रदाय की अहिंसा को इतना अधिक महत्व दिया कि महाभारत में ही अहिंसक यज्ञ को सर्वश्रेष्ठ बताया गया।

भक्ति का आंदोलन भारत में अनेक स्थानों से प्रारंभ हुआ। एक भक्ति का आंदोलन बंगाल से चला जिसमें चैतन्य महापुरुष हुए, दूसरा दक्षिण भारत से जिसका प्रारंभ श्रीरामानुजाचार्य के समय से हुआ। श्रीरामानुजाचार्य का संप्रदाय श्रीवैष्णव संप्रदाय कहलाता है। रामानुजाचार्य के भी पहले नाथमुनि इस संप्रदाय के आचार्य थे। रामानुज के उपरांत वैष्णव संप्रदाय में देवराज, वरदाचार्य तथा वरदगुरु आदि अनेक आचार्य हुए। इनके अतिरिक्त मध्वाचार्य और निम्बार्क हुए। निम्बार्क ने द्वैताद्वैत मत का प्रवर्तन किया। विष्णुस्वामी ने शुद्धाद्वैतवाद का प्रचार किया, जिनके बाद श्री वल्लभाचार्य ने पुष्टिमार्ग की प्रतिष्ठापना की।

श्री रामानुजाचार्य के उपरांत उनके संप्रदाय को वैरागियों से शक्ति मिली और श्रीरामानंद ने उसे बल दिया। अचिंत्य भेदाभेदवाद का प्रवर्त्तन चैतन्यमहाप्रभु ने किया था। वल्लभ संप्रदाय के ही अनुगामी सूर तथा अष्टछाप के अन्य कवि थे।

भक्ति आंदोलन और फैला। सहजयान ने वज्रयान के तन्त्र-मन्त्र तथा रूढ़ियों का तिरस्कार किया था। नाथ संप्रदाय ने जहाँ एक ओर वामाचार का विरोध किया, दूसरी ओर वह ज्ञान की शुष्क परंपरा में ही अपनी सीमा को रख सका। उस समय सहजयान में शून्यवाद के प्रति जो वामाचार की अनुरक्ति थी वही शक्ति के स्थान पर राधा को जन्म देने वाली हुई और राधा को शक्ति के साथ-साथ प्रेयसी के रूप में स्वीकार किया गया। पहले शिवशक्ति अथवा साधक और उसकी स्त्री के रूप में नारी केवल सिद्धि का पथ थी, साधन थी। यह उसको एक निम्नतर अवस्था में रखना था। उसकी अपनी क्या सिद्धि थी उस विषय में नाथ संप्रदाय तक कुछ भी नहीं कहा गया है। यह अवश्य है कि सिद्ध सूची में कुछ स्त्रियाँ भी मिलती हैं, किंतु उनकी साधना के विषय में कुछ भी प्रकट नहीं किया गया है। राधा का रूप मिलने के साथ नारी के देह भोग से भी ऊपर स्त्री-पुरुष के हृदय का संबंध माना गया। धार्मिक रूप का यह विकास कालांतर में फिर रीतिकालीन रूढ़ियों में राज प्रासादों की वासना छिपाने का माध्यम बन गया।

राधा के रूप-परिवर्त्तन से भक्ति का आंदोलन बढ़ चला और जो शिवशक्ति का युगल था वह राधाकृष्ण का द्वन्द्व बन कर साहित्य और कला पर प्रभाव डालने लगा।

आत्मा और परमात्मा के विषय में प्रायः प्रत्येक संप्रदाय में थोड़ा-बहुत भेद है। पर उन सब भक्ति के संप्रदायों का मूल निम्नलिखित है—ईश्वर से प्रेम करो, वह तुमसे दूर नहीं है। अगम्य कह कर उससे डरो नहीं; उसकी शरण जाओ, उसे सखा बनाओ, स्वामी बनाओ, वह तुम्हारा है।'

भक्ति के इस पक्ष का मूल हमें श्रीमद्‌भगवत् गीता में ही मिलता है। कृष्ण ने मनुष्य को भगवान के सामने समान कह कर उसे सब कुछ छोड़ कर भगवान की शरण में जाने का उपदेश दिया। ईसा की तीसरी शताब्दी में ही दक्षिण में शैव अडियार और वैष्णव आलवार कवि हुए थे

जो भक्त थे। शैवों की एक शाखा पाशुपत संप्रदाय थी जिसमें भक्ति को विमोहित अवस्था के रूप का प्रतिबिंब माना था। कालांतर में वह शाखा लुप्त हो गई और उसका रूप बदल कर लिंगायत शाखा का प्रादुर्भाव हुआ।

इस प्रकार इस्लाम से ही पहले ये भक्ति की शाखायें हमें भारत में प्राप्त होती हैं। भक्ति का स्रोत भारत में शैव संप्रदायों में दिखाई देता है। धीरे-धीरे ईश्वर से तादात्म्य का वह रूप अन्य संप्रदायों पर भी छा गया। बर्बर युगीन समाज व्यवस्था का भगवान सामंतीय युग में पहले से अधिक करुण हो गया क्योंकि समाज भी पहले की तुलना में अधिक युक्त हुआ था। किंतु प्रत्येक युग में एक द्वंद्व होता है। शोषक वर्ग धर्म को भी अपने हथियार के रूप में प्रयुक्त करता है। वह सामंतीय युग में भी था। इसका कारण था समान में शास्त्रों की कड़ी रोक जो मनुष्य को मनुष्य से ही नहीं, भगवान से भी दूर रखती थी। शंकराचार्य जैसे प्रकाण्ड मेधावी ने ज्ञान मार्गीय चिंतन में पहले प्रतिपादित कर दिया था कि ब्रह्म के सम्मुख तो इंद्र, कुत्ता और ब्राह्मण बराबर है। पर उसका व्यावहारिक रूप कोई उपस्थित नहीं कर सका था। शैव पहले से ही जाति प्रथा का विरोध करते थे दक्षिण के सित्तर नामक संप्रदाय में भी बारहवीं शताब्दी के लिंगायतों की भाँति जाति-प्रथा को भी माना जाता था। दक्षिण में जब यह शैव प्रभाव था, जो वैष्णव रूप में समानांतर बन कर प्रतिफलित हुआ, बंगाल के भक्ति संप्रदाय पर बौद्धों का प्रभाव था। देखने को यह अद्‌भुत लगता है, क्योंकि बौद्ध ज्ञान पर आश्रित थे, और शून्यवादी ये। परंतु परवर्त्ती बौद्धों में श्रद्धा पल्लवित होती गई थी और जब वही जाति-प्रथा विरोधी संप्रदाय वैष्णव संप्रदाय में रूप बदल कर अंतर्भुक्त हुए तो अपने सामने वह मनुष्य और ईश्वर संबंधी निकट सरलता के भाव नहीं छोड़ सके।

इस प्रकार भक्ति आंदोलन का रूप अधिकांशतः प्रारंभ में समाज का कल्याण करना था। शंकर ने ब्रह्म को सबसे अलग और माया को जड़ कहा था। रामानुज ने ब्रह्म को मनुष्य का साथी और पालक तथा

माया की जड़ता को मिटा कर सारूप्य और सान्निध्य दोनों ही रूपों में उसे लीला कह कर, इस संसार को सत्य कहा। रामानुज ने भक्ति का अधिकार चमारों को भी दिया। यह उस समय का एक बहुत ही क्रांतिकारी परिवर्त्तन था।

ठीक इस समय जब कि भारत में एक आंतरिक हलचल मची हुई थी। इस्लाम ने भारत में पदार्पण किया। ईसाई आये थे, वे दक्षिण में थोड़े से थे। मुसलमान अधिक आये। ईसाई भी जाति प्रथा विरोधी थे और मुसलमानों में तो स्पष्ट ही बराबरी का नारा बहुत ही मुखर था। उसका प्रभाव भारत पर पड़ना आवश्यक था।

उस समय भक्ति संप्रदायों में एक बात पहले से भी बढ़ गई। पहले जहाँ आलवारों में एकाध तिरुप्पान नामक चमार जैसे संत हुए थे। अब उत्तर भारत में अनेक नीच जातियों के संत पैदा हुए, जैसे कबीर, दादू, रैदास, सैना, पीपा इत्यादि। ये सब थोड़े-बहुत पारस्परिक भेद के होते हुए भी निर्गुण भक्त थे, कबीर इन संतों में सबसे प्रबल व्यक्तित्व के संत थे जिन्होंने उस समय गहरा प्रभाव डाला था।

आलवारों की भक्ति और सहिष्णुता महान् थी। एक किंवदंती है कि एक आलवार मंदिर में बैठे थे। जगह केवल एक के ही बैठने योग्य थी। उनसे मिलने एक दूसरे आलवार आये। दोनों एक दूसरे से मिलना चाहते थे परन्तु एक दूसरे को जानते नहीं थे। दूसरे जब आये तो उन्होंने मंदिर में आने की जगह माँगी। पहले आलवार खड़े हो गये और दूसरे को जगह दे दी। दोनों खड़े रहे और उपासना करते रहे। बाद में दोनों का परिचय हुआ।

किंतु उत्तर भारत के संत निर्गुणिये थे। कबीर में यदि एक ओर निर्गुण है जो दूसरी ओर रामानुज की भक्ति और हैं नाथ संप्रदाय और सहजयानी सिद्धों की निडर उक्तियाँ, जिनसे कबीर ने तत्कालीन धार्मिक कट्टरता को दूर करने का प्रयत्न किया। कबीर में भक्ति आत्मा को स्त्री

और परमेश्वर को पति के रूप में भी उपस्थित करती है। ये समस्त संत निर्गुण संप्रदाय के थे, क्योंकि इनके पास उपासना करने के लिये कोई सगुण रूप नहीं था। सगुण भगवान राम और कृष्ण थे, और उनकी शरण जाने में ब्राह्मणों के उसी आधिपत्य का भाग था जो जाति प्रथा का पोषक था। कबीर पहले राम को मानते थे। बाद में उन्होंने अपनी भक्ति का व्यापक स्वरूप वर्णित करते समय अपने को दाशरथि राम से अलग कर दिया था। कबीर के इस पक्ष पर बहुत कम लोगों की दृष्टि गई है।

मीरा में इस निर्गुण और सगुण का सम्मिश्रण उपस्थित था। वह दार्शनिक पक्ष में निर्गुण और उपासना पक्ष में सगुण थी। उसको नीच जाति होने का कोई बंधन नहीं था, बल्कि उसने स्वयं रैदास को अपना गुरू बनाया था जो उस समय लोगों को आसानी से रूचिकर नहीं हुआ था।

भक्ति आंदोलन इतने स्वरूप तक कहीं भी निराशा से लगा हुआ नहीं था। उस पर कहीं भी डर की भावना नहीं थी। चण्डीदास ने भक्ति संप्रदाय में ही ये युगांतकारी शब्द कहे थे कि सबसे ऊँचा सत्य मानव है, मानव से ऊपर और कोई सत्य नहीं है। चण्डीदास पर शाक्त प्रभाव भी था। किंतु निर्गुण संप्रदायों ने देश में एक नया प्राण फूँका। इस्लाम के आने से जो नीच जातियों ने बराबरी का आंदोलन किया, इस आंदोलन के फलस्वरूप नीच जातियों ने इस्लाम के रूढ़िवाद का भी खण्डन किया। काश्मीर, पश्चिमी पंजाब, बंगाल और आसाम की भाँति अन्य प्रदेशों में जहाँ इन निम्न जातियों ने अपने को इस्लाम के सामने समर्पित किया, ये परवर्ती बौद्ध थे। ये लोग बौद्ध धर्म से मुसलमान धर्म में गये थे, इसलिये उनके प्राचीन बौद्ध धर्म का अल्लाह के साथ दो प्रकार से तादात्म्य था, एक जाति प्रथा विरोध, दूसरा शून्यवाद का अल्लाह के निराकार रूप से सारूप्य। किंतु संत संप्रदाय की अपनी धारणायें थीं और वे संत यद्यपि

दोनों कट्टर पंथियों का मजाक उड़ाते थे, किंतु अपने को खोना नहीं चाहते थे। वे तो दोनों की गलतियाँ निकाल कर तीसरा मार्ग खोजना चाहते थे, जिससे मनुष्य ईश्वर के अधिक निकट आ सकें।

भक्ति मार्ग का यह रूप भारत में एक जाग्रति का संदेश था। यह आत्मविश्वास की हिलोर थी, जिसने न केवल समाज का सुधार किया, वरन् उसे शक्ति दी। उसे चैतन्य किया और इसने मनुष्य की प्रतिष्ठा की। इस सत्य को प्रतिपादित किया कि प्रेम के अनेक रूपों का ही सामंजस्य समाज, व्यक्ति और ईश्वर में व्याप्त है, जिससे हम इहलोक और परलोक को सुखी बना सकते हैं। जीवन को जहाँ तत्कालीन दार्शनिक बुद्धि, बौद्धों और निर्गुणियों के शून्य ब्रह्म की ओर खींच रही थी, भक्ति ने समाज के विराट् समूहों को नवीन स्फूर्ति दी। भारत में एक नई शक्ति फैली जो पराजित होना नहीं जानती थी। भक्ति के जिस पक्ष ने भाग्यवाद पर बल दिया, उसने उस पक्ष के सामने ईश्वर को झुका दिया। इस भावना ने समाज के अधःपतित अंश को उठने की प्रेरणा दी। इस धारणा ने जहाँ एक ओर स्थापित अहम्मन्यताओं पर, रूढ़ियों पर प्रहार किया, दूसरी ओर अपने को नीच और अपंग समझने वालों को उठने का रास्ता दिखाया।

किंतु इस समय तक देश की परिस्थिति में परिवर्त्तन होने लगा था। अभी तक इस्लाम भारत को अपने संप्रदाय के रंग में रँगने के प्रयत्न में था। वह लूट उसने रोक दी और उसका वह रूप नष्ट हो गया। जिससे उसने पुरातन धारणाओं को मिटा देने का प्रयत्न किया। अब इस्लाम का काफी सहायक वर्ग भारत में ही हो चुका था। इस्लाम राज्य करने की लिप्सा में था। उसने ब्राह्मणों के बनाये समाज को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया। इस समय तक अकबर की छाया में भारतीय सामन्तवाद अपना समर्पण कर चुका था। उस समय हमें भक्त के दूसरे पक्ष का प्रतिबिम्ब मिलता है। सूर ने भक्त के कृष्ण पक्ष को पकड़ा और जहाँ एक ओर प्रेम

की भावना का अंचला फहराया, दूसरी ओर ज्ञान मार्ग तथा नाथों के योग मार्ग पर प्रहार किया।

तुलसीदास एक महान् भक्त हुए जिन्होंने भक्ति को दास-भाव से स्वीकार किया। अब तुलसी ने भारत के प्राचीन गौरव को जाग्रत किया। उन्होंने पहले तो इस्लामी साम्राज्यों के वैभव से आक्रान्त प्रजा को निर्भय लोकनायक की चरित्र-चित्रण भरी उन्नायक शक्ति दी। दूसरी ओर निर्गुण और सगुण को मिलाकर भक्ति का जो स्वर उठाया उसमें जहाँ एक ओर सबको भगवान की भक्ति का अधिकार दिया, दूसरी ओर साथ ही एक साथ जाति प्रथा और ब्राह्मणवाद का प्रतिपादन किया। तुलसी ने भक्ति की विराट गंगा को कमण्डलु में भरा। तुलसी के पहले यहाँ भगवान सखा थे, सहायक थे, अब उन्हें स्वामी का रूप ही अधिक दिखाया गया। तुलसी ने दरबारी ढंग से भक्ति का प्रचार किया और भाग्यवाद ने तुलसी को ढँक लिया। तुलसी का भक्ति पक्ष समाज. के लिये लोक-कल्याण की भावना थी, आत्मपक्ष में वह द्रावक यातना थी, प्रार्थनाएँ थीं, जिनको दरबारी आवरण में ढँक दिया गया था। किंतु तुलसी ने जो इस्लाम का विरोध किया उससे भारतीय जनता पर से साम्राज्य का भय हट गया। उसके साथ ही भक्ति वह पहला रूढ़ि विरोध स्वर तुलसी के प्रचार में डूब गया।

तुलसीदास के बाद भक्ति मार्ग वैयक्तिक शाखाओं में बिखर गया और खण्ड-खण्ड हो गया। समाज पर एक विलासिता की भावना छा गई। भक्ति के आन्दोलन का अन्त व्यक्तिगत रूप में बँट गया। इस प्रकार हम देखते हैं कि भक्ति आन्दोलन एक विराट उथल-पुथल थी। भारतीय संस्कृति में एक महान् परिवर्त्तन की आवश्यकता आ गई थी। बुद्ध के बाद से सबने ज्ञान मार्ग पर जोर डाला था। केवल भागवत-सम्प्रदाय भक्ति का सहारा पकड़े हुए था। परन्तु बौद्ध और वेद विरोधी शैव सम्प्रदाय और वेद को मानने वाले सम्प्रदाय सब पर रूढ़ियों ने अपना प्रभाव डाल दिया था। भक्ति के सम्प्रदायों का प्रारम्भ हुआ था, मनुष्य को उन

रूढ़ियों से मुक्त करने के लिये और ज्ञान के साथ भक्ति के द्वारा भगवान से सान्निध्य स्थापना का प्रयत्न हुआ। नीच जातियों को इस्लाम के आगमन से जैसे मुक्त होने की नई प्रेरणा मिली, किंतु भक्ति सम्प्रदायो का अन्त भी अपने सामाजिक पक्ष को छोड़कर व्यक्तिगत रूप में हो गया। उसके बाद समाज ह्रास की ओर खिंच चला, उसका विकास दूसरी ओर हो गया। वही राधा जो प्रेम की प्रतीक शक्ति थी, अब विलास की नायिका बन गई और वही रंजनकारी कृष्ण एक साधारण नायक बन गये।

भक्ति के इस युग ने अनेक कार्य कर दिखाये। इसने भारतीय समाज को मिटने नहीं दिया। इसने दुखों को नगण्य समझ कर एक अटूट सहिष्णुता दी, जिसके कारण भारत की सांस्कृतिक विरासत नष्ट होने से बच गई। स्त्री, नीच जातियाँ तथा शूद्रों को अनेक अधिकार प्राप्त हो गये जो उन्हें पहले प्राप्त नहीं थे।

श्री रामदास गौड़ ने अपने 'हिंदुत्व' में पृ० ७२५ पर लिखा है—"(कबीर आदि ने) वर्णाश्रम धर्म, अवतारवाद, बहुदेवोपासना, मूर्ति-पूजा, साकारवाद आदि हिंदुत्व की विशेषताओं को हटाकर इन पंथों ने उपासना विधि मुस्लिमों की तरह सरल कर दी। इसलिये कबीरपंथ, दादू-पंथ, नानकपंथ आदि जोरों से फैल गये। इनमें से प्राय: सबने वेदमार्ग छोड़कर एक ऐसा मध्यमार्ग चलाया कि बहुत बड़ी संख्या मुसलमान बनने से बच गई।" आगे कहा है—श्री सम्प्रदाय के आचार्य रामानन्द और उन्हीं के सम्प्रदाय के शिष्य नागादास और गोस्वामी तुलसीदास इस पंथवाद के विरोधी थे......उन्होने (तुलसी ने) भाषा रामायण लिखी जिसमें ब्याज से वर्णाश्रम, अवतारवाद, साकार उपासना, मूर्तिपूजा, सगुणवाद, गो-ब्राह्मण रक्षा, देवादि विविध योनियों का यथोचित सम्मान, एवं प्राचीन संस्कृति और वेदमार्ग का मण्डन है और साथ ही उस समय के मुस्लिम अत्याचारों और सामाजिक दोषो की एवं पंथवाद की निंदा है।

श्री रामदास गौड़ ने यह तथ्य 'हिंदुत्व' पुस्तक में असंख्य भारतीय

सम्प्रदायों को वर्णित करते हुए लिखा है। यह तथ्य वास्तव में अंशतः सत्य है। कबीर पंथ तथा अन्य पंथ इस्लाम से बढ़ावा पा गये थे। प्रारम्भ यह लहर पहले ही हो गयी थी। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि एक मध्यमार्ग प्रारम्भ हुआ था। यह मध्यमार्ग नहीं था, एक नया पंथ था, जो दोनों ओर की रूढ़ियों से मुक्ति प्राप्त करने का प्रयत्न था; क्योंकि कबीर स्वयं ही पंथ चलाने के विरोधी थे।

भक्तिमार्ग इस प्रकार एक सामाजिक आन्दोलन थे, जिसने अपने समय में रूढ़ियों और अत्याचारों की जड़ें हिला दी थीं और अन्त में आन्दोलन का रूप धारण करके मिट गया, क्योंकि समाज में अनेक प्रकार के परिवर्तन आ गये थे।

तुलसीदास ने जो ऐतिहासिक कार्य किया उसकी पृष्ठभूमि में ब्राह्मण-वाद का सचेत और सक्रिय था। इस्लाम के स्थिर हो जाने पर निम्न जातियो का खतरा उठा था और वह इतना अधिक था कि उसके रोकना आवश्यक हो गया था। तुलसी ने विनय पत्रिका में कलिनाश की जो प्रार्थना की है वह भक्ति को व्यक्तिमार्गी बनाती है और सकल देवताओं की शुद्धि भी की गई है।

विनय पत्रिका का प्रारंभ गणेश स्तुति से हुआ है। प्रत्येक ब्राह्मणवादी परम्परा में गणेश का वंदन सर्वप्रथम माना गया है। गणपत्य सम्प्रदाय की शैव पंचायतन में अंतर्भुक्ति होने के बाद गणेश की आदि उपासना प्रारम्भ हुई थी। तुलसीदास ने इसी पद्धति को लिया है। गणेश के उप-रान्त सूर्य, शिव, रुद्र, देवी, गंगा, (यमुना), काशी, चित्रकूट, इत्यादि की स्तुति की गई है। यमुना के अतिरिक्त सबमें ही राम के प्रति तुलसी की की भक्ति अटूट रही है। इन स्तुतियों के विषय में निम्नलिखित कहा जा सकता है :

(१) तुलसी ने समस्त मान्य देवताओं की स्तुति करके पारस्परिक वैमनस्य को दूर किया है।

(२) तुलसी ने इन सम्प्रदायों की स्तुति करके वास्तव में जिस एक-रूपता को देखा है, उसमें सबको राम के प्रति सम्मान की समान भूमि पर लाकर खड़ा करना, उनका उद्देश्य रहा है।

(३) तुलसी ने प्रत्येक देवता का वेदपुराण सम्मत रूप ही लिया है। यहाँ कुछ उदाहरण देना आवश्यक है।

(अ) माँगत तुलसीदास कर जोरे,
बसहिं राम सिय मानस मोरे (गणेश)
(आ) तुलसी राम-भगति वर माँगै (सूर्य)
(इ) देहु काम रिपु रामचरन रति, (शिव)
(ई) विमल भगति रघुपति की पावै (शिव)
(उ) पाहि भैरव रूप राम-रूपी रूद्र, (भैरव)
इन स्तुतियों का आधार वेद सम्मत रूप है।
(अ) वेदपुरान प्रकट जस जागै (सूर्य)
(आ) वेद विदित तेहि पद पुरारि पुर (शिव)
(इ) विभु वेदपारं (भैरव)

तुलसीदास के पहले यह समस्त सम्प्रदाय अपने मूल रूप में वेदबाह्य थे किंतु कालान्तर में उन पर वेदसम्मत होने का प्रभाव पड़ा और धीरे-धीरे यह समस्त सम्प्रदाय अंतर्भुक्त हुए। तुलसीदास ने इन सबको अपने निकट कर लिया। विशेष करके शिव की उपासना तुलसी ने अधिक की है क्योंकि तुलसी के समय में भी अनेक ऐसे शैव सम्प्रदाय थे जो ब्राह्मण धर्म के विरोधी थे। अतः इन स्तुतियों से यह स्पष्ट प्रकट हो जाता है कि तुलसी ने परिष्कार और शुद्धि की भावना के परम्परागत रूप को लेकर अपनी विनय पत्रिका को प्रारम्भ किया है। मध्यकालीन भक्तों में एकमात्र तुलसीदास ऐसे हैं जिन्होंने गुरुगोरखनाथ के बाद सम्प्रदाय अथवा उपासना क्षेत्र को विकसित तथा शुद्ध करने का प्रयत्न किया। गोरखनाथ ने भी अपने और शिव के सम्प्रदाय चलाये थे। उन्होंने यौनवाद अर्थात् 'शाक्त'

प्रभाव से ब्रह्मचर्य की ओर सम्प्रदायों को प्रेरित किया था। फिर भी गोरख ब्राह्मणवादी नहीं थे। तुलसीदास ने जो रंगमंच बनाया उसे अपने अनुरूप वेदसम्मत बनाया और इस प्रकार एकरूपता को जन्म दिया। यह सामूहिकता का प्रयत्न मूलतः व्यक्तिवादी था, क्योंकि देवताओं की परिस्थिति राम के हेतु है।

देवी की स्तुति विशेषोल्लेखनीय है। तुलसी ने कहा है—

पूतना—पिशाच-प्रेत डाकिनी, शाकिनि समेत,
भूत ग्रह बेताल खग मृगालि जालिका।

अर्थात् हे देवी! तुम पूतना, पिशाच, प्रेत और डाकिनी शाकिनियों के सहित भूत, ग्रह और बैतालरूपी पक्षी और मृगों के समूह को पकड़ने के लिये जालरूप हो।

भैरव स्तुति में लिखा है—

डाकिनी, शाकिनी, खेचर, भूचर, यंत्र-मंत्र भंजन, प्रबल कल्मषारी

अर्थात् डाकिनी, शाकिनी, खेचर, भूचर तथा यंत्र-मंत्र का आप भंजन करने वाले हैं, प्रचण्ड कल्मष के नाशकर्त्ता हैं।

भैरव और देवी दोनों ही अनार्य के देवता और देवी हैं। महाभारत में अनेक स्वेच्छाचारिणी, भगचारिणी मातृकाओं का कार्तिकेय के सम्बन्ध में वर्णन आया है। यह आदिम उपासना के भयकारी देवी-देवता बाद में भी वेदबाह्य बने रहे। प्रारम्भ में यह विभिन्न छोटे-छोटे ग्राम सम्प्रदायों के उपास्य थे। किसी कालान्तर में पुरुष रूप समस्त देवता शिव के स्वरूप में अंतर्भुक्त हो गये और स्त्री सम्प्रदाय समस्त रूपेण अंततोगत्वा पार्वती के स्वरूप में अंतर्भुक्त हो गये थे। यहाँ इस विषय को तनिक विशद रूप से देखना आवश्यक है।

ब्रह्मा, विष्णु और महेश में तीसरे देवता महेश का इतिहास सबसे अधिक आश्चर्यजनक है क्योंकि यह देवता संसार के प्रायः समस्त देवताओं में प्राचीन हैं। दक्षिण के श्रीवैष्णव संप्रदायानुवर्ती शिवलिंग को पूज्य

नहीं मानते, फिर भी शिव की मनुष्याकृति को प्रणाम करते हैं। शिव का अर्थ है कल्याण। तांत्रिकों की भाषा में शव से जब इकार अर्थात् शक्ति का मिलन होता है, तब शिव का आविर्भाव होता है। शिव महाभारत में सहस्रनाम है। वह शान्त है, संहारक है। भैरव रूप में शिव को माना जाता है। शिव पत्नी उमा पार्वती है। पुत्र कार्त्तिकेय तथा गणेश, और नंदी वाहन है। उनके गण भूत-पिशाच हैं। वे परमयोगी हैं। वास्तव में उनके इतने स्वरूपों की कथा एक दिन में नहीं बनी है। शिव के स्वरूप का निरंतर विकास होता रहा है।

आर्यों के भारत आने के पूर्व भी यहाँ अनेक सभ्य जातियाँ रहती थीं, जिनका तात्कालीन रूप कबीलों जैसा था। वे जातियाँ एक ही स्तर पर नहीं थीं। उनमें मुख्य यह थीं—नाग, सुपर्ण, यक्ष, राक्षस, असुर, दानव दैत्य, भूत, पिशाच, गंधर्व, विद्याधर, अप्सरा इत्यादि। नाग उत्तर-पश्चिम से लेकर बंगाल तक फैले हुए थे। कुछ नाग हिमालय प्रदेशों में यक्ष, गंधर्व, भूत, पिशाच, अप्सरा, विद्याधर, राक्षस जातियों के साथ तङ्गण (तिब्बत), नेपाल भूटान (भूत स्थान) में रहते थे। इन सभी जातियों के भिन्न देवता थे।

यक्षों और राक्षसों का पहले एक ही देवता था जिसका नाम काम था। कामपत्नी गौरी थी। कालान्तर में शिवपत्नी बनी और उमा हैमवती शिव भागिनी के रूप में भी वर्णित है। बाद में गौरी और उमा एक देवी बनीं, और वह शिवपत्नी मान ली गई। महाभारत में दक्षस्तुति में शिव को 'काम' कहा गया है।

विलास प्रिय यक्ष, संघजातशिश त्यागकारिणी अप्सरा, उस समाज के प्राणी थे जहाँ स्त्री पर बन्धन न थे, स्त्रियाँ स्वेच्छाचारिणी थीं। गंधर्व और किन्नर यक्षाधीन थे। स्वतन्त्र संभोग प्रचलित था। बाल्मीकि रामायण में कथा है कि जब नलकूवर की प्रिय अप्सरा रंगा से रावण ने बलात्कार किया तब रंगा ने उसे स्मरण दिलाया कि यह उसका श्वसुर था, किंतु

रावण ने हँसकर कहा कि यह नियम केवल मनुष्य समाज के हैं, अप्सरा के नहीं हैं। प्रस्तुत कथा में रंगा का सम्बन्धों की दुहाई देना क्षेपक है क्योंकि महाभारत में इन्द्रप्रिया उर्वशी अर्जुन—इन्द्रपुत्र के पास सहवास प्रार्थना करने स्वयं गई थी।

यक्ष समाज में काम की पूजा होती थी। यहीं तंत्रों का प्रारम्भ है। तंत्रों का प्रारंभ शक्ति पूजा अर्थात् योनि पूजा से है। यह मातृसत्ता-प्रधान युग है, स्त्री ही स्वामिनी है।

यक्ष कुबेर विश्रवण था। विश्रवा से ही राक्षसों की उत्पत्ति हुई। रक्ष तथा यक्ष एक ही धातु को निकले शब्द हैं। रक्ष (रक्षक) अर्थात् राक्षस समुदाय में शिवलिंगोपासना बढ़ी। शिव पुरुष पूजा तथा काम·पूजा का बीज स्त्री पूजा है। स्त्री जन्मदायिनी थी, रहस्य थी। पुरुष को जब निज में बीज होने का ज्ञात हुआ, स्त्री क्षेत्र मात्र रह गई, और लिंग पूजा का उदय हुआ। यह लिंग कालांतर में शिव रूप बना। आर्यों ने पहले शिश्नोपासना का विरोध किया किंतु आर्य पत्नियों ने स्वीकार कर लिया।

यह नहीं कहा जा सकता कि आर्यों का रुद्र (अग्नि) कब कपर्दी (शिव) में मिल गया।

शैवोपासक अनेक जातियाँ थीं। कोई नरभक्षी, कोई जंगली। दक्ष-सती कथा में आर्यों का शिव विरोध स्पष्ट है।

आर्यों के आगमन से अनेक देवता वैसे ही मिलने लगे जैसे इस्लाम के आने पर भारत के समस्त संप्रदाय अपने अनेक पैद रहने पर भी हिंदू कहलाये। वे सब पुरुष देवता शिव के विभिन्न रूप बने। समस्त अनार्य देवियाँ पार्वती रूप के पर्याय बनीं। कालांतर में यह देवता पति पत्नी बन गये, जब इनके उपासकों को अंतर्भुक्ति हुई। अनेकों की अंतर्भुक्ति के कारण इस युगल के अनेक रूप बने।

शिवपुत्र कार्त्तिकेय है। कार्त्तिकेय भार्गव अग्निवंश का पुत्र, अंगिरा के द्वितीय अग्निवंश की एक स्त्री से जन्मा, अतः अनुचित समझा जाकर

फेंका गया। उसे मातृदाओं तथा शिव पार्वती के उपासकों ने पाला और वह अंत में इन्द्र बना। वह परम सहिष्णु था। दक्षिण में उसे पहाड़ी देवता मानते हैं। उसे शिकारी मानते हैं।

गणेश का ऊपर हम वर्णन कर चुके हैं। गणेश गणपत्य संप्रदाय के शैव संप्रदाय में अंतर्भुक्त होने पर शिव का पुत्र बना। गणेश वज्रयान काल में कामुक देवता था।

नंदी शिव का वाहन है। वृषभमूर्त्तियाँ मोहन-जो-दड़ो में भी हैं। वृषभोपासना पहले यहूदी भी करते थे। आर्यों ने सुमेरुवासियों से गाय और वृषभ का सम्मान करना सीखा था। नंदी पहले वृषभ टाटेम था, क्योंकि नंदी कुशल नृत्य रत था और भरत मुनि को उसने शिक्षा दी थी। यह प्रकट करता है कि नंदी का उपासक कोई मनुष्य ही होगा। नंदी शिव के परिवार में कब जुड़ गया यह नहीं कहा जा सकता।

संभवतः वानर जाति भी एक ऐसे देवता को मानती थी जो बाद में लांगूल महादेव कहलाया। उसे अब लांगुरिया कहते हैं। इस लांगूल महादेव की कई जगह हनुमान के रूप में पूजा होती है।

विशाल मंदिर, चैत्य पूजा, श्मशान तंत्रादि क्रिया सब ही शिव पूजा के रूप हैं। शिव से ही योग जुड़ा हुआ है। श्मशानस्थ शिव जब कैलाशस्थ रूप में आये हैं तब दार्शनिक उड़ान आई है। काश्मीर शैव संप्रदाय के साथ-साथ १०वीं शती तक ईरान में पाशुपत मत का प्रसार था। शिव में किरात, पुलिंद आदि अन्य देवता समा गये और शिव को मूलतः संहारक माना गया।

परंतु शिव के संप्रदाय निरंतर ब्राह्मणवाद से संघर्ष करते रहे। आर्यों के बर्बर (दास प्रथा) समाज में वर्ण व्यवस्था जन्मी थी। शैव उसके विरोधी थे। वे छुआछूत नहीं मानते थे। शैव संप्रदाय जिनमें शिव को भव्य देवता के रूप में माना जाता था, वे ही पहले आर्यों में अंतर्भुक्त हुए

और शिव की वैदिक उपासना पद्धति चली। अन्य शैवोपासक निरन्तर वेद विरुद्ध विद्रोह करते रहे।

शिवोपासना में जहाँ एक ओर नीरस ज्ञान योग है, वहाँ गुरुभक्ति और भक्ति से ईश्वर-प्राप्ति सिद्धान्त भी उन्होंने प्रतिपादित किया। भक्ति आंदोलन का प्रारभ शैवों में हुआ जो बाद में अन्य संप्रदायों पर भी पड़ा। शिवोपासना कितनी प्राचीन है यह इसी से जाना जा सकता है कि आज पीपल के पेड़ों के नीचे रखे शिवलिंगों के रूप में अनेक पाषाणकालीन-मनुष्य के औजार घिसे घिसाये देवता बनकर पुज रहे हैं।

शिव पंचायतन में वाम मार्ग स्वीकृत है। यक्ष प्रभाव का अंततोगत्वा शिव संप्रदाय में अंतर्भुक्त हो जाना ही इसका कारण है। तांत्रिकों की कुंडलिनी बाद में शक्ति बनी जो मूलाधार चक्र से उठकर, चक्रों को भेद कर ब्रह्मांड में शिवमिलन करती है और परम सुख प्राप्त होता है। गोण्ड, भील, जो शिवोपासक हैं, वे अपने को हिंदू नहीं मानते, लिंगोपासक हैं। शिव अचल देवता माने गये हैं। लिंग मूर्त्ति यदि ध्यान से देखी जावे तो ज्ञात होगा कि उसके चारों ओर योनि बनी रहती है। वहाँ कुण्डलिनी भी रहती है जो तांत्रिक प्रभाव है। शिव के साथ सर्पों का रहना प्रकट करता है कि जिस प्रकार विष्णु संप्रदाय में शेषनाग नागों के कुछ कबीलों की अंतर्भुक्ति के रूप में प्राप्त है, उसी प्रकार हिमालयस्थ नाग जातियाँ भी शैव संप्रदायों में अंतर्भुक्त हुईं।

शिव के साथ ही पार्वती का भी व्यापक रूप है। वह परमेश्वरी अपने निम्नतर रूप में भगचारिणी मात्र है। चामुंडा भी है। [चामड़ माई] दक्षिण में उसका क्रूरतम रूप मारी अम्मा है।

शिव का रसेश्वर संप्रदाय से भी सम्बन्ध है। पारा शिव का वीर्य है, गंधक पार्वती का रज है। शैव योगियों ने आयुर्वेद को बहुत बड़ी देन दिए हैं। जड़ी-बूटियाँ भी शैवों ने खोजी हैं।

आर्यों का सूर्य देवता विष्णु, वेद का उपेन्द्र, जब नागों और सुपर्णों

की अंतर्भुक्ति से नया रूप धारण करने लगा, तब वह शेषशायी और गरुड़ वाहन बन गया। शकद्वीप से साम्ब द्वारा लाये ब्राह्मणों के व्यूहादि विचार जब उसमें मिले और पाञ्चरात्र का प्रणयन हुआ, तब जो भगवान उस अंतर्भुक्ति के बाद बना, वह संसार पालक विष्णु कहलाया जो इन्द्र से ऊपर माना गया।

आर्यों का ब्रह्मा रह गया। फिर तीनों देवता त्रिमूर्त्ति माने गये और यह अंतिम विराट अंतर्भुक्ति थी।

महाभारत में शिव को बाद में स्वीकार किया गया है। उनके बाद काली को लिया गया है। तदनंतर तो शैवागम को भी प्रामाणिक मान लिया गया। राजा राममोहन राय ने सतीप्रथा को रोक देने के पक्ष में ब्राह्मण ग्रंथों से नहीं, तंत्र ग्रंथों से उदाहरण दिये थे जिन्हें १६वीं शती में आप्तवचन माना गया था। स्त्री मर्यादा का यह रूप वामाचार में मूलतः मातृसत्ताक व्यवस्था का प्रभाव था।

शिवोपासना अत्यन्त सरल है। बेलपत्र चढ़ाना भर अल है। जन-परंपरा में विश्वास है कि शिव पार्वती ही लोक कल्याणार्थ, दीन दुखहरण करने, घूमते रहते हैं। विष्णु-लक्ष्मीकथाएँ इस प्रकार प्रचलित नहीं हैं और हैं भी तो गौण हैं। शिव निम्नतरों का देवता है। भूतोपासकों ने अपने भूत को शिव के गण के रूप में माना है। शिव यम के काम में भी गड़बड़ी डालते हैं।

ब्रह्मा सर्जक है, शिव संहारक, संहारोपरांत शिव-वर्णन नहीं है, केवल बट-वृक्ष के पत्ते पर ब्रह्मांडोदरलीन विष्णु का उल्लेख है। सृष्टि के पुनः प्रारंभ होने पर ब्रह्मा विष्णु के नाभि कमल से निकलते हैं। शिव उस समय अलग से वर्णित होते हैं। शिव त्रिमूर्त्ति में रहकर भी अपनी सत्ता समाप्त नहीं कर देते। वे ही स्त्रीपुमान् पूर्णत्व के प्रतीक अर्द्धनारीश्वर हैं।

शिव का यह सामाजिक रूप इतना सशक्त रहा है कि ब्राह्मणवाद ने अंत में उसे स्वीकार कर लिया है। इस्लाम के आगमन पर शैव योगियों

ने ही अपने को न हिंदू कहा था, न मुसलमान। वे वेदबाह्य शैव थे और क्योंकि ब्राह्मणांतर्गत धर्मानुयायी न थे, वे निज को हिंदू नहीं समझते थे। उनका जीवन के प्रति अभावात्मक दृष्टिकोण, अभाव में ही संतोष प्रवृत्ति रही। परंतु उनकी एक शक्ति थी कि वे विजेता को भी कभी अपना विजेता समझ कर उससे दबते नहीं थे। जिस प्रकार कर्मकाण्ड का अंधविश्वास ब्राह्मणों में था, वैसा ही शैवों में भी था, जिसके भिन्न रूप थे।

तुलसीदास ने शिव के समस्त वेदबाह्य रूपों को निकाल कर दूर कर लिया है। ऊपर के उद्धरणों को समझने के लिये आवश्यक है कि हम उसका एक राम के प्रति समानांतर बनायें। यथा—

विभीषण, सुग्रीव, नल नील, हनुमान, इत्यादि भंजन प्रबल कल्मषारी!

अर्थात् राम इन सब का भंजन करने वाले हैं। स्पष्ट होगा कि शिव और पार्वती जिनके पालक हैं उनके भंजक नहीं हो सकते। तुलसी के जागरूक ब्राह्मणवादी दृष्टिकोण का इससे बड़ा परिचय नहीं मिल सकता। समन्वयवाद की यह परम्परा वर्जन को अपनी मूल शक्ति के रूप में लिये थी। यहीं हमें अनेक स्मृतियों में प्राप्त होता है कि कलिकाल में अनेक वस्तु वर्जित हैं।

तुलसीदास के विषय में कहा जाता है कि उन पर युग के बंधन थे। यह वस्तुतः देखने का गलत ढंग है। प्राचीन काल के लोग द्वंद्वात्मक भौतिकवादी नहीं थे। हमें बजाय यही देखने के कि वे कितने पिछड़े हुए थे, यह भी देखना चाहिये कि अपने युग में अपने से पुराने युग से कितने आगे बढ़े हुए थे। तुलसी अपने युग से कितने बढ़े हुए थे?

कहा जाता है तुलसी ने जनभाषा में लिखा। दोनों का पक्ष लिया। परंतु यह दोनों बातें अन्य कवि भी कर चुके थे। और उनके दृष्टिकोण में अधिक सहज मानवीयता भी है। तुलसीदास पर युग के बंधनों से अधिक उनके अपने वर्ग के बंधन अधिक थे। यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि न वे सामंत थे न सामंताश्रय ही उन्होंने लिया था। फिर वे उच्चवर्ग के कहाँ से

हो सकते हैं। नहीं, यह तर्क प्रणाली गलत है। इतिहास बताता है कि अत्यंत दरिद्र और त्यागी भी उच्चवर्गों की विचारधारा को प्रमाणित करते हैं। यही नहीं, भारत में एक विशेषता और भी है। भारत की वर्णव्यवस्था का प्रभाव यह बतलाता है कि अब भी ग्रामों में एक दरिद्र ब्राह्मण का धनी चमार से अधिक मान है, अधिक मर्यादा मानी जाती है। फिर आज से लगभग तीन सौ बरस पहले के ब्राह्मण की कितनी अधिक मर्यादा रही होगी। तुलसीदास ब्राह्मण थे और वर्णव्यवस्था के अनुसार वे उच्चवर्ण के व्यक्ति थे! हम इसे ही एक कारण नहीं मानते। यह तो केवल यह प्रकट करता है कि वे निम्न वर्ग अथवा वर्ण के व्यक्ति नहीं थे। यह भी देखा गया है कि उच्चवर्ण के लोगों ने भी निम्नवर्णों के उत्पीड़न के विरुद्ध आवाज उठाई है। किंतु तुलसीदास ने ऐसा नहीं किया। उन्होंने एक प्रचण्ड धारा को रोका, जो वेदबाह्य थी, और ब्राह्मणवाद की प्रतिष्ठापना करने के लिये गर्जन किया। उन्होंने जो अपने काव्य में दीन-दुखियों का वर्णन किया है, या चरित्र-चित्रण में उनकी कलम से वास्तविकता प्रकट हो गई है, सच्चे मनोविज्ञान का चित्रण किया है, उसका कारण है उनका महान् कलाकार होना, जिसकी गंभीर अंतर्दृष्टि होती है। महान् कलाकार जब अपनी कला में डूब जाता है तब अनजाने ही बहुत से ऐसे तथ्यों को लिख जाता है जो वास्तव में संभवतः उसके दार्शनिक विचारों अथवा सामाजिक धारणाओं से मेल नहीं खाते। कलाकार का प्राण सत्य है। वह सत्य की अवहेलना तभी करता है जब वह वर्गवाद की चेतना का अनुभव करता है। कला सत्य को पकड़ती है, तभी मर्म को पकड़ती है। तुलसीदास के विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि वे मानस अथवा पत्रिका लिखते समय समाजिकता के प्रति चैतन्य नहीं थे। चैतन्य तो प्रत्येक कलाकार होता है। परंतु कभी-कभी उसकी चेतना मर्यादा और बंधन स्वीकार लेती है। तुलसीदास ने जगह-जगह जो राम का ईश्वरत्व दुहराया है उसका मूल कारण यही है कि वे अपनी बात को प्रतिपादित करना चाहते थे।

तुलसी के पात्रों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण यही दिखाता है कि निम्नवर्गों ने राम की पूर्ण भक्ति की है और केवल ईश्वर के ही रूप में उपास्य नहीं हुए हैं। राम मानस के लोक व्यवहार में एक राजकुमार हैं और यह लोक ज्ञान सदैव जाग्रत रखा गया है।

तब यह अलं है। तुलसीदास पर युग के बंधनों से भी अधिक अपने ही वर्ण अर्थात् वर्ग के बंधन थे क्योंकि तुलसी का युग केवल ब्राह्मणों का ही युग नहीं था। उस समय और भी अनेक सम्प्रदाय और नीच वर्ण थे जो किसान थे, कमकर थे, उत्पीड़ित थे। उनकी ओर जब तुलसी ने ध्यान दिया है तो उनका मंतव्य है कि वर्णाश्रम छोड़ देने के कारण ऐसा हुआ है। तुलसी ने चित्रकूट दृश्य में जिस पारिवारिक जीवन की समस्या को सुलझाया है, उसका हल भी सामंतीय है। केवल एक अच्छे आदर्श मानवीय सामंत का वर्णन है और यह तुलसी का सुन्दर स्थल है। राजा के विना तो वह युग हो ही नहीं सकता था। तुलसी ने अन्धा राजा बनने का उदाहरण प्रस्तुत किया। किंतु साथ ही वर्णाश्रमधर्म को भी वे नहीं भूले और जहाँ एक ओर सहूलियतें देकर नीच वर्णों को ढाँढ़स बँधाया, वहाँ दूसरी ओर अपने वर्ग स्वार्थ की भी रक्षा की। उस युग में जाति-पाँति का कितना विरोध चल रहा था, तुलसीदास भी जहाँ अपनी व्यक्तिगत भक्ति की बात करते हैं—कहते हैं—

लोग कहैं पोत्र, सो न सोच न सँकोच मेरे।
ब्याह न बरेखी, जाति-पाँति न चहत हौं॥

इस उद्धरण से कुत्सित समाजशास्त्री इतने गद्‌गद् हो जाते हैं कि बस तुलसी को ठेठ मार्क्स का अवतार सिद्ध करने से भी नहीं झिझकते। वे यह नहीं जानते कि भारतीय वर्ण व्यवस्था में सन्यासी के लिये व्यक्तिगत रूप से जाति-पाँति का कोई बंधन नहीं होता। ब्राह्मण भी जब सन्यास लेता है तब शिखा कटा कर, यज्ञोपवीत उतार देता है। समस्त ब्राह्मण धर्म ने वर्णव्यवस्था को लोकव्यवस्था माना है। आंतरिक शुद्धि या महानता

का मापदण्ड उसे नहीं बनाया, ब्राह्मणवाद कितना लचीला था, रहा है, या है, यह समझ लेना भी कठिन काम है, क्योंकि वह स्वयं युगानुरूप परिस्थितियों से प्रभावित होकर बदलता रहा है। चर्पटनाथ ने भी कहा था—

घर में पूत, न धीय कुमारी।
ताते चर्पट नींद पियारी॥

ऐसा लगता है कि इस प्रकार कहना तो मस्त साधुओं का स्वभाव सा था।

तुलसीदास गृहत्यागी साधू थे। व्यक्तिपक्ष में यह नम्रता तो उनके वर्णगत थी। इसी व्यक्तिपक्षीय नम्रता के लिये ही तो वर्णव्यवस्था के असाम्य का पोषक, क्षमाशील नाम से प्रसिद्ध हो गया है। द्वन्द्व को देखना चाहिये। द्वन्द्व के पक्ष-प्रतिपक्ष को देखना चाहिये और फिर समाज के अंतर्द्वंद्वों के साथ प्रत्येक वर्ग के भी अंतर्द्वंद्व को देखना चाहिये।

तुलसीदास साधू थे। अब खाने-पीने की उन्हें चिंता नहीं थी, तभी तो उन्होंने कहा था—

राम को गुलाम, नाम रामबोला राख्यौ राम,
काम यहै, नाम द्वै हौं कबहूँ कहत हौं।
रोटी लूगा नीके राखै, आगेहू की वेद भाखै,
भलो ह्वै है तेरो, ताते आनँद लहत हौं॥

क्या मस्ती है! विभोर आनंद है। कितना गौरव और आत्मविश्वास का गर्व है कि जीवित में निश्चिंत हूँ, और मृत्यु के उपरांत वेद ने कल्याण मार्ग दिखा ही रखा है, सब पहले से तय है। तुलसी का यह व्यक्तित्व ही उनके आदर्शों को स्थापित करवाने का माध्यम हो सका है। वे साधू हैं। उनका स्वार्थ वैसा ही रहा है जैसा धर्म के प्रचारकों का, जो अपनी वासनाओं और इच्छाओं का त्याग करके तपस्वियों का सा जीवन व्यतीत करते हैं। यह है तुलसीदास का भक्तिपक्ष। भक्ति समाज के पक्ष में व्यक्ति के कल्याण का मार्ग है। वह समानता देती है तो इस समाज में नहीं, भगवान की दृष्टि में। व्यक्तिपक्ष में आत्मयातना का दहन, यह व्यक्ति की विभोरा-

वस्था दोनों तुलसी देते हैं परंतु अब इस भक्ति में संतों की सामाजिक चेतना नहीं है, व्यक्ति पक्षमात्र ही है। तभी कहा है—

तुलसी अकालकाल रामही के रीझे-खीझे,
प्रीति की प्रतीति मन मुदित रहत हौं।

जिस तुलसी ने राम के लिये अनेक देवताओं की उपासना की है। सामाजिक पक्ष में सब की मर्यादा रखी है, अंत में व्यक्तिपक्ष में राम के सामने जाकर वह और कुछ कहता है।

दूसरो, भरोसो नाहिं, वासना उपासना की,
बासव, बिरंचि सुर नर मुनिगन की।
स्वारथ के साथी मेरे, हाथ स्वान लेवा देई
काहू तो न पीर रघुबीर ! दीन जनकी।
साँप सभी साबर लबार भये, देव दिव्य,
दुसह साँसति कीजै आगे ही या तनकी।

अर्थात् आपके सिवाय मुझे किसी का भरोसा नहीं है। न इन्द्र, देवता, मनुष्य और मुनियों की उपासना करने की ही मुझे अब कुछ इच्छा है। आपके अतिरिक्त सब ही स्वार्थ के साथी हैं, [यहाँ तुलसी ने पुरानी उपासना पद्धति पर प्रहार किया है, उन रूढ़िवादी ब्राह्मणों पर जो वर्ण व्यवस्था के पुनरूद्धार को नहीं समझ पा रहे थे] वे जन्म भर हाथी की भाँति सेवा करने पर, कहीं कुत्ते जैसा तुच्छ फल देते हैं। दीनबंधु तो आप ही हैं।

तुलसीदास की भक्ति 'निरुपाधी' है। वहाँ दूसरी ओर वह 'सब साधन-फल' हैं जो वे नहीं चाहते।

तुलसी हित अपनो अपनी दिसि,
निरुपाधी नेम निवाहैं।

× × ×

सब साधन फल, कूप-सरित-सर
सागर-सलिल निरासा।

जिस प्रकार पपीहा कूप, आदि में निवृत होकर सब साधन फल में निरत है जो केवल

रामनाम रति स्वाति सुधा सुभ सीकर
प्रेम पियासा,

वही तुलसी का भी इष्ट है।

किंतु भक्ति का यही पक्ष नहीं। आगे वे कहते हैं कि राम ही तो एकमात्र साधन है। राम नाम ही सब रिद्धि सिद्धियों को साध देता है—

एक ही साधन सब रिद्धि सिद्धि साधिरे।

वे कहते हैं कि यह सारा संसार आकाश के उपवन के समान मिथ्या है, धूँसे के पदार्थों की भाँति सब नश्वर है—

जग नभ वाटिका रही है फल फूलिरे
धुवाँ कैसे धौ रहा देखि तू न भूलिरे।

वही तुलसीदास जो इतने मर्यादा के पालक हैं, संसार के कल्याण के लिये जिन्होंने कलि के विरुद्ध राम के पास पत्रिका भेजी है वहाँ यह नैराश्य का स्वर क्यों है? क्योंकि यह तुलसी का एकात व्यक्तिपक्ष है। यहाँ वे संसार की वास्तविकता को माया कहते हैं। एक ओर वे अवतारवाद मानते हैं। रामानुजाचार्य की लीला से आप्लुत संसार में वे राम को देख-देखकर बार-बार गद्गद् हो उठते हैं। और यहाँ उन्हें शंकर का वेदांत प्रभावित कर रहा है? नहीं, तुलसी का दर्शन रामानुज और शंकर के मतों का एक ऐसा समन्वय है जिसे देख कर आश्चर्य होता है। जो तुलसी को दूसरो के मत से आँकते हैं वे तुलसी को छोटा करके देखते हैं। तुलसी स्वयं एक दार्शनिक हैं। उनके दर्शन के दो पक्ष हैं। व्यक्ति पक्ष और समाज पक्ष। शंकर के मत से इन्होंने व्यक्ति पक्ष में, ब्रह्म के दृष्टिकोण से संसार देखा है और रामानुज के मत से, उन्होंने समाज पक्ष में, जीव के दृष्टिकोण से संसार पर दृष्टिपात किया है। इसका सामंजस्य तुलसी में यों है कि जब वे मानस लिखते हैं, समाज पक्षीय दृष्टिकोण को प्रमुखता देते हैं तब वे

सगुण को निर्गुण से ऊपर रखते हैं और ज्ञान को भक्ति के बिना अधूरा कहते हैं। किंतु जब वे पत्रिका लिखते हैं और उनको भगवान से सीधी बात करने का सा सुअवसर प्राप्त होता है, वे अपने सन्यासी जीवन के व्यक्ति पक्ष को भी नहीं भूल पाते और उन्हें ऊँचाइयों पर, अन्य संतों और भक्तों की भाँति जीवन में असारता ही दिखाई देती है।* भारतीय संत परम्परा में (और भक्तों में भी) हम अन्यत्र दिखा चुके हैं कि यहाँ प्रत्येक साधना का मूल स्वर जीवन के प्रति एक अभावात्मक दृष्टिकोण में रहा है। जैसे वे कहते हैं कि यह सब क्या है, कुछ नहीं।

जागत, वागत, सपने न सुख सोइहै,
जनम जनम, जुग जुग जग रोइहै।

किंतु राम नाम का ही एकमात्र भरोसा तो वे बार-बार कह रहे हैं। शंकर का निर्गुण ब्रह्म बन कर ही यहाँ राम अपने एक रूप में उपस्थित हैं। दूसरी ओर वे भक्ति के सीधे और सरल माध्यम से सारे बंधन काट देने में समर्थ हैं।

रीझे बस होत, खीझे देत निज धाम रे,
फलत सकल फल कामतरु नाम रे।

जिस प्रकार सूर में—

प्रभु हौं सब पतितन कौ टीकौ
और पतित सब चारि दिनन के हौं तो जनमत हीकौ—

मिलता है, वही आत्मयातना और दैन्य तुलसी में भी विद्यमान हैं—

राम सों बड़ो है कौन,
मोसौं कौन छोटो,
राम सो खरौ है कौन,
मोसौं कौन खोटो !

*देखिये मेरी—भारतीय चिंतन, किताब महल, प्रयाग।

और वे कहते हैं—

जागु जागु, जीव जड़! जो है जग जामिनी,
देह-गेह-नेह जानि जैसे घन दामिनी।
सोवत सपनेहुँ सहै संसृति संताप रे।
बूड़्यो मृग-वारि खायौ जेवरी को सांप रे!
कहैं वेद बुध, तू तो बूझि मनमाहिं रे।
दोष दुख सपने के जागे ही पै जाहि रे!
तुलसी जागे ते जाग ताप तिहूँ तापरे।
राम नाम सुचिरुचि सहज सुभाय रे!

अरे मूढ़ जीव! जाग! संसार रूपी यामिनी को देख। स्नेह, गेह, देह, बादल की बिजली के समान हैं। प्रसाद ने भी मृत्यु के बीच में जीवन के लिये इस परवर्ती काल में भी कहा है—

सौदामिनी संधि में क्षण भर उजाले सी वह दिखती है। प्रसाद की विचारधारा युग-विभेद के कारण बदल चुकी थी। किंतु मध्यकाल की खेतिहर उत्पादन प्रणाली का भाग्यवाद से अखण्ड संबंध था। हृदय से निकलने वाले यह स्वर मनुष्य की जिस द्रावह पीड़ा के परिचायक हैं, वे व्यक्ति पक्ष में व्यक्तित्व विकास की तृष्णा के परिचायक थे। तृष्णा को यहाँ केवल एक उत्कट अभिलाषा के रूप में लेना चाहिये। मानस में जहाँ तुलसीदास एक धर्मोपदेशक के रूप में उपस्थित हैं, विनय पत्रिका में वे भक्ति को ही अधिक प्रकट करते हैं।

मृगतृष्णा और रज्जु सर्प भ्रम को केवल शंकर मत में ही नहीं देखा जाता, यह विचार शैवों में भी था और उन शैव संप्रदायों में भी था जिनमें निगमागम का शासन नहीं माना जाता था। नाथ मत में भी यही उक्ति है। बल्कि परवर्त्ती सहजयानियों और कापालिकों में भी यह शब्दावली प्रयुक्त होती थी। यहाँ हमें साफ समझ लेना चाहिये कि भारतीय दार्श-

निकता के दो पहलू रहे हैं। फिर उसी शब्दावली के प्रयुक्त करने से काम चल जायेगा, व्यक्ति पक्ष और समाज पक्ष।

शिवसंहिता में भी यही चिंतन मिलता है। परन्तु तुलसीदास जब दुहाई देते हैं तब उन्हें वेद का ही नाम याद आता है।

जिस समाज में व्यक्ति को पूर्ण विकास का अवसर मिलता है, वहाँ उसके अंतर्द्वन्द्व भी कम होते जाते हैं। अंतर्द्वन्द्वों की ज्ञात परम्परा अर्जुन से प्रारम्भ होती है जब समर भूमि में एक-एक टक्कर का योद्धा एकत्र है और गाण्डीवधारी धनञ्जय पराजित-सा रथ में बैठ जाता है। सामाजिक विषमता का प्रारम्भ हमें और भी पहले से मिल सकता है किंतु यह उदाहरण तो जगत-प्रसिद्ध है। चारों ओर से शंखों के प्रचंड निर्घोष, टकराते धनुषों और उठे हुए खड्गों तथा हिनहिनाते तुरंगों तथा चिंघारते हाथियों से भरी संग्राम भूमि में सव्यसाचि की वह व्याकुलता भारतीय संस्कृति का एक महान् क्षण है, जब वह पूछता है कि क्यों वह युद्ध कर रहा है, क्यों वह संसार का संहार करने को खड़ा हुआ है? क्या करेगा वह उस समृद्धि और वैभव का जो उसे अपनों के ही शवों पर खड़े होकर अट्टहास करना पड़ेगा?

उस समय कृष्ण ने दार्शनिक के रूप में उपदेश दिया था कि यह तो तेरे व्यक्तिपक्ष की बात हुई।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते,
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।

अर्थात् जो अनन्य भाव से मुझमें स्थित हो निरंतर मेरा चिंतन करके निष्काम भाव से मुझे भजते हैं, उनका योग क्षेम मैं स्वयं प्राप्त करता हूँ।

(गीता में भी भक्ति का सगुण रूप सहज ही कहा गया है—
पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति,
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः।)

और कृष्ण ने समाज पक्ष में समस्त समाज का ढाँचा अर्जुन को दिखाया है और उस जर्जर समाज व्यवस्था को पहले ही से मृत दिखाया है कि वह तो इतिहास बदलेगा ही, तू तो निमित्त मात्र है। तभी अर्जुन शस्त्र उठाता है।

किंतु व्यक्ति और समाज पक्ष के इस भेद ने बाद में भी पीछा नहीं छोड़ा। आश्चर्य का विषय है कि जिस गीता का उपदेश सुन कर अर्जुन ने गांडीव उठाया था, उसी गीता का युधिष्ठिर पर बिल्कुल प्रभाव नहीं पड़ा। युद्ध के बाद युधिष्ठिर हिंसा और अहिंसा का प्रश्न उठाने लगे। उस समय ऋषियों ने उन्हें यही समझाया कि यही क्रूरता क्षत्रिय धर्म है।

यह एक ऐसा अंतर्विरोध था कि भारतीय जीवन इसके कारण अभूत निराशा के अंधकार में खोया रहा। उसने वह अनार्य चिंतन स्वीकार कर लिया कि सब दुख है। आनंद है तो ईश्वर है। परन्तु व्यक्ति पक्ष यहाँ समाज पक्ष से अलग हो गया। जो होता है वह तो नाशवान् है, मिट जाता है, न प्रेम से शांति मिलती है, न सुख से।

क्यों? समाज की उत्पादन और वितरण प्रणाली इतनी विषम थी कि व्यक्ति फिर अपने विकास के कोने खोजने लगता था। यद्यपि तुलसीदास भी, जहाँ आत्मयातना का प्रश्न है, उसी आत्मयातना की आभावात्मक परम्परा में जा खड़े होते हैं; फिर भी उनमें सचाई है और उस समय भी उनकी यातना में यद्यपि 'वेद-वेद' लगा ही रहा है, पर हम एक उत्कट वेदना देखते हैं, जो उन्हें मानवीयता देती है। तुलसी अपने पात्रों में मानवतावादी हैं, मानस कथाक्षेत्र में वे धर्म-प्रचारक हैं, परन्तु वेदना भरी प्रार्थनायें, उनका वेदना भरा स्वर नितांत उनके युगानुरूप ही है। केवल जहाँ वे उस वेदना की सुलझन चाहते हैं तब अपने पाप के साथ ही साथ उन्हें लोक पाप की याद हो आती है और वे कलि के विरूद्ध बोलने लगते हैं।

तुलसी की भक्ति का पथ अन्य भक्तों की भाँति प्रशस्त नहीं है। वे

तो एक भरे दरबार में आ गये हैं। आये हैं उस राज दरबार में जहाँ सब कुछ उनकी कल्पना का यूटोपिया है, सर्वश्रेष्ठ है। उत्तर काण्ड (मानस) में तुलसी ने उस आदर्श राज्य की कल्पना की है और प्रकट किया है—

अयोध्या नगर देखकर मुनि लोग विराग भूल जाते हैं। वह बहुत सुन्दर बना हुआ है। इतना वैभव है कि उसका वर्णन भी भारी हो उठा है।

देखि नगरु विरागु बिसरावहिं,
जातरूप मनि रचित अटारीं,
नाना रंग रुचिर गचढारीं।
पुर चहुँ पास कोट अति सुन्दर,
रचे कँगूरा रंग रंग बर।

× × × ×

मनि दीप राजहिं भवन भ्राजहिं देहरी विद्रुमरचीं
मनि खंभ भीति विरंचि विरची, काक मनि मरकत खची,
सुंदर मनोहर मंदिरापत अजिर अचिर फटिक रचे
प्रति द्वार द्वार कपाट पुरट बनाइ बहु वज्रन्हि खचे।

सुन्दर कुटीर हैं। सदा खिलने वाले कुसुम हैं; सुक सारिका बालकों को 'राम रघुपति जन पालक' कहना सिखाते हैं।

सब सुखी सब सच्चरित सुन्दर नारि नर सिसु जरठ जे।

× × × ×

तीर-तीर देवन्ह के मंदिर।
चहुँदिसि तिन्ह के उपवन सुन्दर।
कहुँ-कहुँ सरिता तीर उदासी
बसहिं ज्ञानरत मुनि सन्यासी।

ऐसे राजा का वर्णन है—

भूमि सप्त सागर मेखला,
एक भूप रघुपति कोसला।

और बेचारे तुलसीदास वहाँ पहुँच गये। चारों ओर का वैभव देखकर वे चकित हैं।

दयालु राम तुम मुझे कृपाकटाक्ष का पात्र क्यों नहीं बनाते—

पाहन पसु, बिटप बिहँग अपने करि लीन्हे
महाराज दसरथ के! रंक राय कीन्हे।
तू गरीब को निवाज, हौं गरीब तेरो
बारक कहिये कृपालु! तुलसिदास मेरो!

मेरे तेरे तो अनेक नाते हैं, जो चाहे वही स्वीकार कर ले—

तोहिं मोहिं नाते अनेक,
मानिये जौ भावै!

वैसे तो वेद के प्रति तुलसी को अतीव सम्मान है, परंतु जब सन्यासी को व्यक्तिगत सुख की खोज हुई तब उन्होंने कहा—

तुलसीदास व्रतदान, ग्यानतप, सुद्धिहेतु श्रुति गावै
राम चरन अनुराग नीर बिनु मल अति नास न पावै।

भक्ति की बराबरी कोई नहीं कर सकता। क्योंकि राम का वर्णन यह है—

बलिपूजा चाहत नहीं, चाहत एक प्रीति।

तुलसी ने बलिपूजा चाहने वाले प्राचीन इन्द्रादि देवताओं का, कट्टर रूढ़िवादी पुराने ब्राह्मणवाद का विरोध किया है। और समन्वयवादी तुलसी ने स्पष्ट किया है कि कौन बहुत से देवताओं की उपासना करे—

को करि कोटिक कामना,
पूजै बहु देव।

तांत्रिकों का उस समय कितना प्रभाव था यह इसी से प्रगट होता है कि तुलसी ने सिद्धि के लिये, बीजमंत्र, तर्पण, समिध, अग्नि आदि का वर्णन करते हुए अपनी उपासना पद्धति का समानान्तर प्रस्तुत किया है—

बीर महा अवराधिये, साधे सिधी होय,
सकल काम पूरन करै, जानै सब कोय।
बेगि, बिलंब न कीजिये लीजै उपदेस,
बीज मंत्र जपिये सोई, जो जपत महेस।
प्रेम बारि तरपन भलो, घृत सहज सनेहु
संसय समिध, अगिनि छमा, ममता बलिदेहु।
अघ उचाटि, मन बस करै, मारै मद मार
आकरषै सुख संपदा संतोष विचार।
जिन्ह यहि भाँति भजन कियो, मिले रघुपति ताहि
तुलसीदास प्रभुपथ चढ्यौ, जौ लेहु निबाहि।

उच्चाटन और वशीकरन की भी समस्या हल हो गई है।

भगवान के हाथ में ही काल, कर्म, और जीव की गति अगति है।

काल करम, गति अगति जी की, सब हरि! हाथ तुम्हारे।

प्रभु का यह रूप निर्णीत करने के पहले तुलसी कहते हैं कि यह संसार अत्यंत विचित्र है। कहा नहीं जा सकता कि यह है क्या? ऐसी अनोखी है यह सृष्टि कि इसे समझाया नहीं जा सकता। हे हरि मैं देख कर मन ही मन समझ कर रह जाता हूँ। एक शून्य दीवार पर निराकर ने चित्र बनाया है और इस चित्र का कोई रंग भी नहीं है। यह धोये से नहीं मिटता। इसे मृत्यु का डर लगता है। [डर लगता है तो तुलसी का विचार क्या अर्जुन का भय है जो त्रिलोकाधारी भगवान के स्वरूप को देख कर डर गया था?] इस चित्र को देख कर दुख होता है। [क्यों? क्योंकि यह दुस्तर है। विषम है] सूर्यकिरणों में जो वारि है उसमें एक बिना मुँह का मगर है जो सबको खा जाता है [यह संसार भ्रमजनित तो है ही उसमें निराकार व्यापी काल है जो सब को ग्रस लेता है] इसे कोई सत्य कहता है, कोई झूठ, कोई सच झूठ दोनों। तुलसीदास कहते हैं कि जो तीनों भ्रम छोड़ देता है, वही अपने को पहचान पाता है।

केसव कहि न जाइ का कहिये
देखत तव रचना विचित्र हरि ! समुझि मनहिं मन रहिये ।
सून्य भीति पर चित्र, रंग नहिं, तनु बिनु लिखा चितेरे,
धोये मिटइ न मरइ भीति, दुख पाइय एहि तनु हेरे ।
रविकर नीर बसै अति दारुन मकर रूप तेहि माँही,
बदनहीन सो ग्रसै चराचर, पान करत जे जाहीं,
कोउ कह सत्य, झूट कह कोऊ, जुगल प्रबल कोउ मानै
तुलसीदास परिहरै तीन भ्रम, सो आपन पहिचानै ।

तुलसीदास ने यहाँ सृष्टि का निराकर आदि ही स्वीकार किया है। यहाँ राम भी निर्गुण हैं। किंतु दिखाई तो यह संसार दे ही रहा है। और फिर यहाँ मृत्यु है, अतिरिक्त मृत्यु के दुख हैं। ऐसा लगता है जैसे माया में ही वह काल छिपा हुआ है जो दारुण और बुभुक्षित है। मायावाद का सिद्धांत पूर्णतः सत्य नहीं। न भौतिक का सिद्धांत ही तुलसी को मान्य है। इन दोनों के बीच का तृतीय मार्ग भी तुलसी को मान्य नहीं। दार्शनिक दृष्टिकोण से तुलसी का यह पद बहुत महत्त्वपूर्ण है। न वे शून्यवादी हैं कि माया को ही सब कुछ मान लें, न वे भौतिकवादी हैं कि जो है उसे ही सत्य समझ लें। तुलसी ने यह स्वीकार किया है कि निराकार ने रचना की है। वह रचना बड़ी गूढ़ है और उसमें माया भी है, काल भी है, दुख भी है। परंतु न तो जगत मिथ्या ही है, न सत्य ही, न सत्यासत्य ही। रामानुज की लीलानुसार जगह भगवान का एक रंग-स्थल है। उसमें कल्याण है, आनंद उसका मूल है। परंतु यहाँ वह भी नहीं दिखाई देता। इससे स्पष्ट होता है कि तुलसी के अपने दर्शन में न शुद्ध रूप से अद्वैत था, न बिशिष्टाद्वैत। उनकी एक अलग धारणा थी।

वे भक्ति से भ्रम निवारण चाहते हैं। भक्ति के रूप में भगवान सगुण हैं।

जिस प्रकार शंकराचार्य ने बौद्धों का शून्यवाद समस्त अंगीकृत करके

उसे ब्रह्म का नाम दिया था, उसी प्रकार तुलसी ने समस्त निर्गुण को अंगीकृत करके उसे सगुण का आकार दिया है। निराकार को जानने का रूप ज्ञानमार्ग पर चलना है, और साकार से तादात्म्य का रूप भक्ति है और एक स्थल पर तुलसी ने कहा है—

भगतिहि ग्यानहि नहिं कछु भेदा
उभय हरहिं भव संभव खेदा,
× × ×
ग्यान विराग जोग बिग्याना,
ऐ सब पुरुष सुनहु हरिजाना।

ज्ञान, वैराग्य, योग और विज्ञान पुरुष हैं। भक्ति स्त्री है। माया भी स्त्री है। फिर स्त्री पर स्त्री तो मोहित नहीं हो सकती। यह तर्क कल्पना का ही तर्क है। इसमें वाक्चातुर्य अधिक दिखाई देता है। माया को भक्ति से काटना यद्यपि पुराना तर्क है, परंतु उसे प्रस्तुत करने का तुलसी का रोचक ढंग है।

मोह न नारि, नारिके रूपा,
× × ×
माया भगति सुनहु तुम्ह दोऊ
नारि बर्ग जानइ सब कोऊ

किंतु जब तुलसी अधिक व्याकुल हो उठते हैं तब भक्ति से भी काम नहीं चलता। भक्ति है, ज्ञान है। सब सत्य हैं, सब साधन हैं, परंतु जब तक भगवत्कृपा नहीं होती तब तक कुछ नहीं होता—

ग्यान-भगति-साधन अनेक,
सब सत्य, झूठ कछु नाहीं,
तुलसिदास हरि कृपा मिटै भ्रम,
यह भरोस मन माँही।

और फिर जब राम के सामने वे बोलते हैं तब कहते हैं—हे दीनदयालु! पाप, दारिद्रय, दुःख और त्रिविध दुखों से संसार जला जा रहा है। प्रभु के वचन हैं और वेद तथा विद्वानों की सम्मति है कि मेरी प्रतिच्छवि पृथ्वी का देवता ब्राह्मण है। पर वे भी अब लालची हो गये हैं। राजसमाज करोड़ों कुचालों से भर गया है। [यहाँ राजपूतों से अर्थ लिया जाय या सामंतों से ?] हेतुवाद (भौतिकवाद ? अथवा नास्तिकवाद) ने राजसमाज को अजीब नीति दे दी है। आश्रम वर्ण धर्म से विश्वविहित हो गया है। लोक और वेद की मर्यादा उठ गई है। प्रजा पतित पाखंडरत है। अपने-अपने रंग में रँगी है। कामधेनु रूप पृथ्वी कसाई के हाथ पड़ गई है [मुगल सम्राटों से तात्पर्य है ?] राम ने देखा तो शुभ शकुन होने लगे। वे तो जगद्विजयी हैं [यह क्या वैभव के छोटे आदर्शों को चुनौती नहीं है ?]

दीनदयालु, दरित दारिद दुख
 दुनीदुसह तिहुँ ताप तई है,
देव दुवार पुकारत आरत
 सब की सब सुख हानि भई है।
प्रभु के वचन बेद बुध सम्मत,
 'मम मूरति महिदेव मई है।
तिनकी मति रिस-राग-मोह-मद,
 लोभ लालची लीलि लई है।
राज समाज कुसाज कोटि कटु
 कलपित कलुषकुचाल नई है
बीति प्रतीति प्रीति परमित पति
 हेतुवाद हठि हेरि हई है,
आश्रम बरन धरम विरहित जग
 लोक बेद मरजाद गई है।

प्रजा पतित, पाखंड पापरत,
अपने अपने रंग रई है।

यहाँ तुलसी का दृष्टिकोण प्रजा के प्रति कितना स्पष्ट है ? प्रजा के आर्त्तरूप को वे पतित कहते हैं क्योंकि उन्होंने जो सोचा है वह यही कि यह सब क्यों हुआ ? इसका कारण वर्णाश्रम धर्म को छोड़ देना है।

परमारथ स्वारथ, साधन भये अफल,
सफल नहिं सिद्धि सई है,
कामधेनु-धरनी कलि-गोमर-बिबस
विकल जामति न बई है।
काल-करनी बरनिये कहाँ लौं......

× × ×

बिनती मुनि सानंद हेरि हँसि
करुना वारि भूमि भिजई है,
रामराज भयो काज, सगुन सभ,
राजाराम जगत विजई है।

तात्कालिक भक्तों में केवल तुलसी ही दासभाव से राम के प्रति अनुरक्त थे। उन्होंने कहा भी है—

लाज न लागत दास कहावत।

तुलसी ने विश्वास से गीता का वचन दुहराया है—

जब जब जग जाल व्याकुल करम काल
सब खल भूप भये भूतल भरन
तब तब तनु धरि, भूमि भार दूरिकरि,
थापे मुनि सुर, साधु, आश्रम बरन।

इसी प्रभु का साक्षात्कार तुलसीदास ने राम के रूप में किया है। तुलसी ने काफी तर्क से राम की महानता को सिद्ध करने का प्रयत्न किया

है। इसी से ज्ञात होता है कि तुलसी कितने विद्वान व्यक्ति थे। उन्होंने मानस के उत्तरकाण्ड में लिखा है कि स्वयं वेद ने ही राम का बंदीवेष में गुण गान किया है—

जय सगुन निर्गुन रूप रूप अनूप भूप सिरोमन

वेद राम को सगुण भी कहते हैं, निर्गुण भी। तुलसीदास इतने ही से संतोष नहीं प्राप्त कर लेते। वह रूप अनूप भी है। जितना कहा जा चुका है, उससे अधिक भी कहना आवश्यक है।

अवतार नर संसार भार विभंजि दारुन दुख दहे
जय प्रनतपाल दयालप्रभु संजुक्त सक्ति नमामहे

राम संसार का भार दूर करते हैं और वह प्रभु दयालु है, उनमें शक्ति भी सन्निहित है। शक्ति की यह सन्निहित राम को पूर्णता देता है और शिव से वे भिन्न नहीं रह जाते।

तव विषम माया बस सुरासुर नाग नर अग जग हरे
भव पंथ भ्रमत अमित दिवस निसिकाल कर्म गुननि भरे।

राम की माया यहाँ विषम है। रामानुज ने लीला को विषम नहीं कहा, अगाध कहा है। जीव का भ्रमण कर्मानुसार तो पुराना ही सिद्धान्त है।

जे नाथ करि करुणा विलोके त्रिविध दुख ते निर्वहे।

यहाँ तुलसीदास ने अंततोगत्वा प्रभु की दया का आधार ही सर्वश्रेष्ठ समझा है। इस दया के सामने ज्ञान के मान में प्रमत्त लोगों की तुलसी ने अवहेलना की है और कहा है—

जौयान मान विमत्त तव भव हरनि भक्ति न आदरी।

तर्क को तुलसी ने प्राधान्य नहीं दिया। विश्वास करने को पद्धति भी तुलसी से प्राचीन ही है। तुलसी ने दासत्व को ही पथ का पाथेय माना है

विस्वास करि सब आस परिहरि दास तव जे होइ रहे
जपि नाम तव बिनु श्रम तरहिं भवनाथ सो सम राम हे!

बिना श्रम के यह भव सागर पार करने की प्रवृत्ति मध्यकाल में तब प्रारम्भ हुई थी जब वह अन्य साधनों को प्रयुक्त करके भी समाज की विपमता को दूर नहीं कर सका था। तुलसी ने समझाया है—

अव्यक्त मूल मनादि तरु त्वच चारि निगमागम मने
षट कंध साखा, पंच बीस अनेक पर्न सुमन घने
फल जुगल विधि कटु मधुर बेलि अकेलि जेहि आश्रित रहे
पल्लवत फूलत नवल नित संसार विटप नमामहे !

इस वर्णन को समझने के पहले उन्होंने अपने समस्त चिंतन का सार इस प्रकार दिया है :

जे •ब्रह्म अजमद्वैतअनुभवगम्य मन पर ध्यावहीं

यह ब्रह्म अज है, अद्वैत है, अनुभवगम्य है। अव्यक्त मूल है। वृक्ष अनादि है। यह तुलसी ने एक अद्भुत वृक्ष बनाया है। कुछ नहीं 'थे' से जो कुछ नहीं उत्पन्न हुआ है उसका साकार रूप तुलसी ने प्रस्तुत किया है। त्वचा वेद है। और यही रूपक लगने पर पल्लव संसार है। गीता का वृक्ष ऊर्ध्वमूल है। तुलसी ने उसको दुहराया नहीं है। बल्कि उस कारण और कार्य की शृंखला को छोड़कर अपना मत दिया है।

यह वृक्ष तुलसी के दर्शन का रूप है। अव्यक्त से जो अनादि पैदा हुआ है, उसकी ऊपरी सतह वेद है और फिर संसार की वस्तु स्थिति उसी का फलना फूलना है। अतः जब पथ बन गया तो तुलसी ने गाया—

ते कहहुँ जानहुँ नाथ हम तब सगुन जस नित गावहीं

और अब इस परम्परा में स्वाभाविक ही सगुण रूप सामने आया है और तुलसी ने उसकी उपासना की है। वह सगुण को इस अव्यक्त और अमूल्य से एक साथ ही जोड़ता है और इनमें परस्पर भेद नहीं देखता। विभेद के रूप कहकर मान लेता है—किन्तु

भव सिंधु अगाध परे नर ते
पद पंकज प्रेम न जे करते,

और जब सगुण रूप दीखता है तो भगवान के चरण भी दीखते हैं। यह पदपंकज निम्नतरावस्था है जिसके सामने आत्मलय है। जो उन चरणों के सामने सिर नहीं झुकाता, वह संसार रूपी सिंधु से कभी पार नहीं जा सकता, दुख पाता रहता है।

नहिं राग न लोभ न मान सदा
तिन्ह के सम वैभव वा विपदा
एहि ते तब सेवक होत मुदा
मुनि त्यागत जोग भरोस सदा
करि प्रेम निरंतर नेम लिएँ
पद पंकज सेवत सुद्ध हिएँ

भक्त सुख-दुख में समासीन है। नाथ योगी भी गगनोपम होने की चिन्ता करते थे। (Non entity) अकिञ्चनता यहाँ सगुण रूप का सहारा लेती है। पहले के नाथ योगी शिवोऽहं कहा करते थे। परंतु यहाँ व्यक्ति विकास में उदासीनता है—

सम मानि निरादर आदर ही—
सब संत सुखी विचरंति मही,

तुलसी ने संत के रूप में सबको उदासी से देखा है। यह केवल संत के जीवन की झाँकी है।

एक ही वस्तु के दो रूप हैं। नुस्खा दोनों के लिये लागू है। विरागी को तो लाभ है ही, परंतु सकाम और विषयी में इसका पूरा लाभ उठाता है। तुलसी की उपदेशात्मकता उनकी एक अपनी चीज है—

जे सकाम नर सुनहिं जे गावहिं
सुख संपति नाना विधि पावहिं
सुनत विमुक्त विरत अरु विषई
लहहिं भगति गति संपति नई

राम कथा इस ज्ञान का एक पथ है। वह जो अव्यक्त अमूल था, उस तक रामकथा पहुँचाती है। वह भक्ति को दृढ़ करती है। रामकथा में यहाँ तुलसी कृत रामकथा से नहीं, राम को भगवान मानकर मानी गई कथा है–

विरति विवेक भगति दृढ़ करनी
मोह नदी कहँ सुन्दर तरनी।

वह मोह रूपी नदी में से पार कराने वाली सुन्दर नौका के समान है। वह ब्रह्मानंद प्राप्त करा देती है, क्योंकि वह जितनी व्यापक है, उतनी ही अगाध है। ब्रह्म ने ही राम का स्वरूप धारण किया था और वह लीला ही राम का रूप है, उसे अन्यथा समझना अपने ही अज्ञान का फल है।

यह संसार क्यों इतना अगाध विषाद का कारण दिखाई देता था? व्यक्ति के दुख थे, रोग, जन्म, मृत्यु और इससे भी बढ़कर समाज का दारिद्रय। तुलसी ने देखा था कि समाज की व्यवस्था में धन के दारिद्र्य से मनुष्य अत्यन्त दयनीय था। उस पर महामारी आदि के प्रकोप थे।

मध्यकालीन चिंतन के पास उस समय एक ही शक्ति थी जिसके द्वारा वह अपने को सँभाले रहता था। वह थी शक्ति-मनुष्यता की, मानवतावाद की। संत केवल उसी का सहारा लेते थे, तुलसी, वर्णाश्रम को प्रतिष्ठापित करके समझते थे, समाज का कल्याण हो जायेगा। तभी राम ने कहा :—

संतसंग अपवर्ग कर कामी भव कर पंथ,
कहहिं संत कवि कोविद श्रुति पुरान सद्ग्रंथ।

भगवान् राम तो स्वयं वेद पुरान की दुहाई देते हैं, किन्तु मुनीश्वर दूसरे रूप में उनका वर्णन करते हैं—

मुनि ने कहा :

जय भगवंत अनंत अनामय
अनघ अनेक एक करुनामय
जय निर्गुन जय जय गुन सागर

वह भगवान अनंत, अनामत है। अनघ है, पापहीन है। अनेक है और वह करुणामय एक। तथा—

नाम अनेक अनाम निरंजन,

उसके अनेक नाम हैं; वह अनाम है, निरंजन है—और—

सर्व सर्वगत सर्व उरालय,

सब कुछ वही है, उसके परे न कुछ है, न उससे कुछ भी छूटा हुआ है। तुलसी का राम ही सब कुछ है, तभी उन्होंने स्पष्ट किया है—

भव वारिधि कुंभज रघुनायक।

इस संसार सागर में वे पार लगाने वाले हैं। तुलसी के दर्शन का विवेचन इसीलिये गंभीर विषय है कि वह उनका अपना विचार तारतम्य है जिसे उन्होंने जगह-जगह प्रगट किया है। भक्त रूप में वे मन को दुख का कारण समझते हैं—

मन संभव दारुन दुख दारय
दीन बंधु समता विस्तारय

दीनबंधु समता से विस्तार करते हैं, अर्थात् समता को फैलाते हैं। वे राम—

रघुकुलकेतु संतु श्रुति रत्तक
काल करम सुभाउ गुन भत्तक
तारन तरन हरन सब दूषन

श्रुति रच्छक हैं। आश्चर्य का विषय है कि तुलसी ने एक बार भी तो भूल नहीं की। जैसे डर बैठ गया था और वे चिल्ला रहे थे कि वेद की रत्ता करो, रत्ता करो। उनका मर्यादा पालन कितना था उसका आधार यहीं मिलता है। तभी हनुमान ने कहा :

नाथ भरत कछु पूँछन चहहीं।

भरत सीधे नहीं पूछ सकते। भरत! जिसके लिये तुलसी ने कलम तोड़ दी। राम को तुलसी ने बार-बार विचलित कर दिया। किन्तु सभा में

तुलसीदास किसी को भी वह स्वतंत्रता नहीं दिलाना चाहते। क्या इसका कारण यह समझा जाये कि तात्कालिक सामंतों के भाई जो स्वतंत्रता लेते थे, तुलसी उसे अनुचित समझते थे? तुलसी ने आदर्श रखा है। यह कौन सा प्रणतपाल, दीनबंधु राजा है, जिसके वैभव की थाह नहीं? भक्ति का यह दास्य भाव क्या वही है जिसे अन्य लोगों में पाया जाता है? तुलसी तो निहोरे करने में भी मर्यादा नहीं छोड़ते। व्यास स्तुति में भी अपनी ही बुराई करते हैं। यहाँ कुछ उद्धरण दिये जाते हैं जो तुलसी के दृष्टिकोण को स्पष्ट करेंगे।

सम अभूत रिपु विमद विरागी
लोभामरष हरष भय त्यागी
कोमल चित दीनन्ह पर छाया
मन बच क्रम मम भगति अमाया
सबहि मानप्रद आपु अमानी

× × ×

विप्र द्रोह पर द्रोह विसेषा

× × ×

सीतलता सरलता मयत्री
द्विज पद प्रीति धर्म जययत्री

तथा—

नर सरीर धरि जे परपीरा
करहिं ते सहहिं महा भव पीरा

× × ×

निंदा अस्तुति उभयसम

× × ×

पाइ न जेहिं परलोक सँवारा
सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोष लगाइ।

× × ×

सुनहु असंतन्ह केरि सुभाऊ
भूलेहुँ संगति करिअ न काऊ

× × ×

संपत्ति के विषय में भी तुलसी ने निम्नलिखित कहा है—

जरहिं सदा पर संपति देखी।

इसके आगे कलि का वर्णन किया गया है, और तुलसी ने समाज के विभिन्न क्षेत्र देखे हैं—

पर द्रोही पर दार रत परधन पर अपवाद

× × ×

स्वारथ रत परिवार विरोधी

× × ×

मातु पिता गुर विप्र न मानहिं

परिवार सामंतीय व्यवस्था में समाज की जड़ था परंतु उसमें अनेक खराबियाँ आ गई थीं। तुलसीदास ने आपसी झगड़ों के विषय में लिखा है। यथा—

संतसंग हरि कथा न भावा

× × ×

वेद विदूषक पर धन स्वामी

× × ×

यहाँ हम संक्षेप में तुलसी के कुछ और विचारों का प्रदर्शन करते हैं—

इस शरीर का फल विषय नहीं है। स्वर्ग भी स्वल्प है, उसका अन्त दुखदाई है। यहाँ हम तुलनात्मक रूप देते हैं—

रामचरित-मानस	शिव संहिता (अनुवाद मैंने किया है)
एहितन कर फल विषय न भाई	ज्ञान ही एक अनादि अनंत
स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई।	नित्य एकाकी।
नरतन पाइ विषयँ मन देहीं	शेष न सत्य,
पलटि सुधा ते सठ विष लेहीं।	इन्द्रियोपाधि जगाती भेद,
ताहिं कबहुँ भल कहइ न कोई	किंतु इस सबके पार
गुंजा ग्रहइ परस मनि खोई।	ज्ञान है एक अखंड अभेद
आकर चारि लच्छ चौरासी	नहीं रहता फिर कुछ भी शेष।
जोनि भ्रमत यह जिव अविनासी	भक्त में अपने, मैं अनुरक्त
फिरत सदा माया का प्रेरा	स्वयं ईश्वर, सारे संसार
काल कर्म सुभाव गुन घेरा	सर्वभूतों को मुक्ति प्रदान—
कबहुँक करि करुना नर देही	योग अनुशासन,
देत ईस बिनहेतु सनेही।	देता आज।
नर तनु भव वारिधि कहुं बेरो	सत्य की करता श्लाघा एक,
सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो	शौच तप की करता है अन्य
करनधार सद्गुर दृढ़ नावा	क्षमा, समता, आवर्जन, दान
दुर्लभ साज सुलभ करिपावा	कर्म औ पितृकर्मा वैराग्य—
× × ×	विचक्षण कोई बस गार्हस्थ्य
जौ परलोक इहाँ सुख चहहू	और कोई विद्वान
× × ×	अग्निहोत्रों को कह सर्वोच्च
सुलभ सुखद मारग यह भाई	तीर्थ अनुसेवन, मंत्र—
भगति मोरि पुरान श्रुति गाई	मुक्ति के कहते विविध उपाय,

ग्यान अगम प्रत्यूह अनेका,
साधन कठिन न मन कहुँ टेका,
करत कष्ट वहु पावइ कोऊ
भक्ति हीन मोहि प्रिय नहिं सोऊ
भक्ति सुतंत्र सकल सुख खानी
बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी,

× × ×

तृन सम विषम स्वर्ग अपवर्गा

× × ×

पुन्य एक जग महुँ नहीं दूजा
मन क्रम वचन विप्र-पद पूजा
सानुकूल तेहि पर मुनि देवा
जो तजि कपटु करइ द्विज सेवा
भगतिपच्छ हठ नहिं सठताई
दुष्ट तर्क सब दूरि बहाई

× × ×

मम गुन ग्राम नाम रत
गत ममता मद मोह
ता कर सुख जोइ जानइ
परानंद संदोह*

× × ×

किंतु यह कृत्याकृत अनेक
जानकर भी इस जग में मग्न
पाप कर्मों से भी हो मुक्त
नहीं पाते हैं छूट
एक भीषण व्यामोह
इन्हें ग्रस लेता है बलकाय।
पाप पुण्यों में यह सब किंतु
अवश से भ्रमते हैं चुपचाप
जन्म औ' मृत्यु विराट
उसी की परम्परा में दीन
हाँफते हैं निरूपाय।
गुप्त आलोकन तत्पर अन्य
श्रेष्ठ औरों से कहते—एक
यही आत्मा है अगणित आतम
सर्वगत नित्य।
और फिर कुछ का दृढ़ विश्वास
विषय प्रत्यक्ष
नयन इन्द्रिय लेते जो आंक
वही है सत्य,
शेष का कहीं नहीं आधार
कहाँ है स्वर्ग नरक का वास!
विश्व है केवल

---

*तुलनीय—मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी माँ नमस्कुर,
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसिमे,
(श्री मद्भगवद् गीता १८॥६५)

परमात्मा ब्रह्म नर रूपा
होइहहिं रघुकुल भूषन भूपा
× × ×
तव पद पंकज प्रीत निरंतर
सब साधन कर यह फल सुन्दर
प्रेम भगति जल बिनु रघुराईं,
अभि अन्तर मल कबहुँ न जाईं,
सोइ सर्वग्य तग्य सोइ पंडित
सोइ गुन गृह विग्यान अखंडित
दच्छ सकल लच्छन जुत सोईं
जाके पद-सरोज रति होईं।
× × ×
माया कृत गुन दोष अनेका
मोह मनोज आदि अविवेका
× × ×
आँब छाँह कर मानस पूजा
तजि हरि भजनु काजु नहिं दूजा
× × ×
सुनु खग प्रबल राम कै माया—
जो ग्यानिन्ह कर चित अपहरई
× × ×
हरिमाया कर अमिति प्रभावा
विपुल बार जेहिं मोहिं नचावा
× × ×
मोह गएँ बिनुराम पद
होइ न दृढ़ अनुराग
मिलहि न रघुपति बिनु अनुरागा
किंए जोग तप ग्यान बिरागा
× × ×

ज्ञान प्रवाह,
या कि है शून्य
या कि है प्रकृति—
पुरुष दो तत्व !
यथामति श्रुति
चिंतन कर घोर
पराङ्मुख परामर्थ से भिन्न
भिन्न मति,
ईश्वर नहीं महान्,
'नहीं है ईश्वर'—
का कर घोष
या कि ईश्वर है,
या दे मुक्ति
विविध भेदों का करते गान,
अहह ! वे गर्जन तर्जन मात्र !
अरे ये संज्ञा भेदी भिन्न
भिन्न मति—ऋषि मुनि,
कहता शास्त्र—
लोक में फैलाते व्यामोह—
सतत करते आपस में वाद
सत्य कहने में निपट अशक्त
घूमते हैं रह रह अनजान
बहिष्कृत मुक्ति पंथ से दूर।
सर्वशास्त्रों का गहन विचार
डूब कर लाया हूँ मैं पार
सत्य औ सुनिष्पन्न यह एक

ग्यानी तापस सूर कवि कोविद
गुन आगार
केहि कै लोभ विडंबना कीन्ह न
ऐहि संसार
श्रीमद बक्र न कीन्ह केहि
प्रभुता बधिर न काहि
मृगलोचनि के नैन सर
को अस लाग न जाहि
× × ×
काहि न सोक समीर डोलावा
चिंता सांपिनि को नहिं खाया
को जग माहिं न व्यापी माया
× × ×
सुतवित लोक ईषना तीनी
केहि कै मति इन कृत न मलीनी
× × ×
यह सब माया कर परिवारा
× × ×
व्यापि रहेउ संसार महुँ
माया कटक प्रचण्ड
सेनापति कामादि भट
दंभ कपट पाखण्ड,
सो दासी रघुबीर कै......
× × ×
जो माया सब जगहि नचावा
जासु चरित लखि काहुँ न पावा
× × ×

योग—
यह योग शास्त्र ही मात्र !
ज्ञान निश्चय है इसका अंत
छोड़ कर सारे भारी शास्त्र
योग श्रम में तू हो जा लीन !
गोप्य यह केवल त्रिभुवन बीच
सुभक्तों को ही होगा प्राप्त
वेद में ज्ञान, कर्म दो कांड
पुनः दोनों के दो दो भाग
कर्म में विधि है और निषेध
पाप है जहाँ निषेध
पुण्य विधि का फल निश्चय प्राप्त
नित्य नैमित्तिक काम्य
त्रिविध हैं यह विधि कूट
नित्य अकृति से मिलता पाप
काम्य नैमित्तिक का भी काल
फलाफल देता है सव्याज
स्वर्ग औ नरक
द्विविध फल प्राप्त
अगन हैं स्वर्ग
नरक के भेद
पुण्य कृति स्वर्ग, पाप कृति नर्क
अरे ध्रुव सत्य कह रहा देख
कर्म से बँधी हुई यह सृष्टि,
स्वर्ग में जाकर नाना भाँति
सुखों को पाता है यह जंतु

सोई प्रभु भ्रू विलास......
नाच नटीइव सहित समाजा ।
× × ×
सोइ सच्चिदानंद घनरासा
अज विग्यान रूप बल धामा
व्यापक व्याप्य अखण्ड अनंता
अखिल अमोघ सक्ति भगवंता
अगुन अदंभ गिरा गोतीता
सब दरसी अनवध अजीता
निर्मम निराकार निर्मोही
नित्य निरञ्जन सुख संदोहा
प्रकृति पार प्रभु सब उर वासी
ब्रह्म निरीह विरज अविनासी
× × ×
जथा अनेक वेष धरि
नृत्य करइ नट कोई
सोइ सोइ भाव देखावइ
आपुन होइ न सोइ
असि रघुपति लीला उरगारी
दनुज विमोहिनि जन सुखकारी
× × ×
नौकारूढ़ चलत जग देखा
अचल मोह बस आपुहि लेखा ।
× × ×
निर्गुन रूप सुलभ अति
सगुन जान नहिं कोइ

असह दारुण यातना कठोर
नरक में मिलते दुःख परंतु
पाप कर्मों के वश में दुःख
पुण्य कर्मों के वश में सुख
भूमि पर सुख आशा में ग्रस्त
'पुण्य कर लूँ'—मानव की चाह ।
पाप भोगों का कर अवसान
अरे निश्चय होता फिर जन्म
पुण्य भोगों का जब हो अंत
यही है अंत यही है पंथ
अन्य की श्री को देख
स्वर्ग में भी होता है क्लेश
दुःख है सबमें केवल दुःख
दुःख से काँप रहा संसार
पाप पुण्यों से बँध कर कर्म
द्विधा में स्वयं बेननिज बंध
प्राणियों पर क्रम से अवतीर्ण
पाश को करते दृढ़तम खींच
कर्मफल की न जिन्हें हो चाह
छोड़ कर यह भीषण जंजाल
नित्य नैमित्तिक संज्ञा छोड़
चलो रे चलो योग की ओर
कर्म काण्डों का लख माहात्म्य
सुधि योगी दे सबको त्याग
अनघ अघ छोड़ ज्ञान की ओर
वेद कहते, आत्मा को देख

सुगम अगम नाना चरित
सुनि मुनि मन भ्रम होइ
× × ×
जदपि प्रथम दुख पावइ रोवइ
बाल अधीर
व्याधि ना सहित जननी गनति न
सो सिसुपीर ।
× × ×
रघुपति प्रेरित व्यापी माया
सो माया न दुखद मोहिं नाहीं
आन जीव इव संसृत नाहीं
× × ×
ग्यान अखंड एक सीता वर
माया बस्य जीव सचराचर
× × ×
माया बस्य जीव अभिमानी
ईस बस्य माया गुनखानी
परबस जीव स्वबस भगवंता
जीव अनेक एक श्रीकंता
सुधा भेद जद्यपि कृत माया
बिनु हरि जाइ न कोटि उपाया
अविरल भगति बिसुद्ध तब
श्रुति पुरान जो गाव
× × ×
मम माया संभव संसारा
जीव चराचर विविध पुकारा
सब मम प्रिय सब मम उपजाये
सबते अधिक मनुज मोहिं भाये

श्रवण कर इसका यह ही सत्य
ज्ञानदाता रक्षक हैं, यत्न
निरत तू ढूँढ़, मुक्ति का दान
इसी में पायेगा तू प्राणि !
दुरित पुण्यों में जो यह बुद्धि
लगाता है—सारे संसार
चराचर में मैं ही व्याप्त
स्वयं मुझसे है सारा दृश्य
अरे मुझमें है सारी वस्तु
सभी मुझमें हो जाती लीन
स्वयं आत्मा रहती है शेष
अरे मैं ही यह आत्मा देख
नहीं है मुझमें कुछ भी भिन्न ।
अनेकों जल प्यालों में सूर्य
बिंब से दिखता अगन अनेक,
एक ही तो है लेकिन तत्व
अगन प्यालों में अनगिन व्यक्ति
किंतु मैं रवि सा केवल एक ।
कल्पना से आत्मा बहुदृश्य
स्वप्न में ज्यों करती निर्माण
जागते ही सब होता दूर
एक ही रह जाता है शेष
जगत भी उसका ही छविमान ।
रज्जु में सर्प,
कि मोती में रूपा की भ्रांति
एक परमात्मा में यह विश्व

तिन्ह मँह द्विज, द्विज मँह श्रुतिधारी
तिन्ह मँह निगम धरम अनुसारी
× × ×
तिन्ह मँह प्रिय विरक्त पुनि ग्यानी
ग्यानिहु ते अति प्रिय विग्यानी
तिन्ह ते पुनि मोहि प्रिय निज दासा
जेहि गति मोरि न दूसर आसा
× × ×
मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं
× × ×
भगतिवंत अति नीचउ प्रानी
मोहि प्रानप्रिय असिमम बानी।
जे असि भगति जानि परिहरहीं
केवल ज्ञान हेतु श्रम करहीं
ते जड़ कामधेनु गृह त्यागी
खोजत आकु फिरहिं पथ लागी
सुनु खगेस हरि भगति बिहाई
जो सुख चहहिं आन उपाई
ते सठ महासिंधु बिनु तरनी
पैरि पार चाहहिं जड़ करनी।
हरि सेवहि न व्याप अविद्या
× × ×
(काक भुशुण्डि प्रसंग)
सता बरन भेद करि
जहाँ लगें गतिमोरि
गयऊँ तहाँ प्रभु भुज निरखि,
व्याकुल भयउँ बहोरि
× × ×

निवृत है केवल इसी प्रकार।
दूर हो जाता मिथ्या रूप
रज्जु से हट जाता ज्यों साँप
दूर हो जाता मिथ्या भूत
विश्व, जब होता आत्मज्ञान
सीप से होती रूपा दूर
भ्रांति सा लगता है संसार
जाग उठता जब आत्मज्ञान।

श्रीमद्‍भगवद्‍गीता ११, १५ से—
(विराट रूप वर्णन) अर्जुनोवाचः
पश्यामि देवांस्तव देवदेहे
सर्वांस्तथा भूत विशेषसङ्घान्
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ
मृषींश्च सर्वानुरागांश्च दिव्यान्
अनेक बाहूदर वक्त्र नेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्त रूपम्
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप।
त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्
त्वमव्ययः शाश्वत धर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषोत्तमोमे।

बिहँसत तुरत गयऊँ मुखमाहीं,
उदर माँझ सुनु अंडज राया
देखेऊँ बहु ब्रह्माण्ड निकाया,
अति विचित्र तहँ लोक अनेका
रचना अधिक एक ते एका
कोटिन्ह चतुरानन गौरीसा
अगनित उडगन रवि रजनीसा
अगनित लोकपाल जयकाला
अगनित भूधर भूमि विसाला

× × ×

नाना भाँति सृष्टि विस्तारा
जो नहिं देखा नहिं सुना
जो मनहूँ न समाइ
सो सब अद्भुत देखेउँ
बरनि कवनि विधि जाइ
एक एक ब्रह्माण्ड महुँ
रहउँ वरष सत एक
एहि विधि देखत फिरउँ मैं
अंड कटाह अनेक

× × ×

भिन्न भिन्न मैं दीख सबु
अति विचित्र हरिजान
अगनित भुवन फिरऊँ प्रभु
राम न देखेउँ आन

× × ×

भगति हीन गुन सब सुख ऐसे
लवन बिना बहु बिंजन जैसे

रूद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरूतश्चोष्मपाश्च
गंधर्वयक्षासुर सिद्ध सङ्घा
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ।

रूपं महत्ते बहुवक्त्र नेत्रं
महाबाहो बहुबाहुरूपादम्
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम्

यथाप्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा
विशान्ति नाशाय समृद्धवेगाः
तथैव नाशाय विशन्ति लोका-
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ।

(इसके उपरान्त वह प्रसंग तुलनीय है जहाँ मार्कण्डेय ने वट-वृक्ष के पत्ते पर सोते भगवान के पेट में प्रवेश किया है। विस्तार भय से हम उसे नहीं देते। प्रसंग प्रसिद्ध ही है।)

ऊपर के उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है कि तुलसी की दार्शनिक विचारधारा का रूप क्या था।

वे ईश्वर को अंश, जीव को अविनाशी मानते थे। वह चेतन अमल और सहज सुख की राशि हैं, परंतु माया के वश में बँधे हुए बंदर की भाँति हो जाता है। वेद-पुरान उस जीव की ग्रंथियाँ खोलने के कई उपाय बताते हैं, परंतु ईश कृपा के बिना कोई उससे नहीं छूटता।

श्रद्धारूपी धेनु जब श्रुतिमार्ग के तृण खाती है, तब उसे भावरूपी वत्स मिलता है। मनरूपी अहीर दास हो जाता है। धर्म दुग्ध को अकाम अनल में पका, तब सुबानी आदि के माध्यम से अंत में वैराग्य का नवनीत निकलता है।

बुद्धि से ज्ञान होता है। योग कर्म के शुभाशुभ को निर्मित करता है। चित्र के दीपक में समता दिअट बना कर दृढ़ता से धरो। वहाँ विग्यानमय ज्योति जल सकती है। वह दीप शिखा ही सोहमस्मि है। अविद्या का नाश आवश्यक है। इन्द्रियाँ झरोखे और द्वार हैं। उनमें प्रभंजन घुसता है और ज्योति बुझ जाती है।

ग्यान पंथ तलवार की धार है। भक्ति सहज है। किंतु यह राम कृपा बिना नहीं होती। और उसके लिये सेवक का सेवा भाव होना चाहिये।

तुलसी ने अपने भावाशेष में [१२२ (ग)] संस्कृत में फतवा दिया है—

विनिश्चितं वदामि ते न अन्यथा वचामि मे
हरिं नरा भजन्ति येऽतिदुस्तरं तरन्ति ते।

जैसे हिंदी से उनका काम नहीं चल सका।

एक पिता के अनेक पुत्र हैं और उनके विभिन्न शील और आचार हैं। परंतु पिता की प्रीति सब पर समान है। कोई मन-कर्म से पिता का भक्त है, वही पुत्र उसको प्राण समान है। इसी प्रकार संसार में जितने जीव हैं, सब पर भगवान की बराबर दया है। पुरुष नपुंसक नारी, या सचराचर में

कोई भी जीव, जो भी भगवान को कपट तजकर भजता है, वह उसे अत्यंत प्रिय है।

रामकृपाबिनु सुनु खगराई
जानि न जाइ राम प्रभुताई,
जानें बिनु न होई परतीती
बिनु परतीती होइ नहिं प्रीती
प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई,
बिन गुर होइ कि ग्यान,
ग्यानि कि होइ विराग बिन
गावहिं वेद पुरान, सुख किलहिय
हरि भगति बिन!

बिना संतोष के काम नष्ट नहीं होता। राम भजन बिना काम नहीं मिटता। बिना 'विग्यान' के समता नहीं आती। श्रद्धा बिना धर्म नहीं आता। अपने सुख के बिना मन स्थिर नहीं होता। बिना विश्वास भक्ति नहीं उपजती। ईश्वर तो सर्वभूतमय है। मुझे निर्गुन मत नहीं सुहाता, मुझे तो सगुणब्रह्म की रति अधिक अच्छी लगती है।

सगुणोपासना और निर्गुणोपासना का मूल ब्रह्म के विषय में एक ही है किंतु उसका सामाजिक पक्ष अलग-अलग है। दोनों को अलग-अलग देखना आवश्यक है। संक्षेप में हम कह सकते हैं—

(१) संत निर्गुण संप्रदायों को मानते थे, क्योंकि सगुणोपासना के रूप में ब्राह्मणवाद आता था।

(२) तुलसी ने निर्गुण को अपने मत में समेट कर सगुण का प्रचार किया।

(३) भारतीय वर्ण संघर्ष की कथा में द्विरूप है। वर्ण के रूप में यहाँ वर्ण संघर्ष भी रहा है। ब्राह्मण व्यवस्था सामंतीय व्यवस्था का प्रतीक बन गई थी।

(४) ब्राह्मण व्यवस्था लचीली थी, और है। तुलसी ने उसे बदल

कर नया रूप दिया। इसलिये पुरातनतावादियों ने उनका विरोध भी किया।

(५) तुलसी ने 'भगति' के रूप में उस सहूलियत को निम्न वर्णों के लिये स्वीकार कर लिया, जो श्रीमद्भागवत से प्रारंभ हुई थी।

(६) तुलसी का अपना एक अलग दर्शन है, जिसे समन्वय का दर्शन कहा जा सकता है। उसमें कोई मौलिक भेद नहीं है, केवल उसके प्रस्तुत करने का ढंग अलग है।

(७) आत्म यातना और आत्मशुद्धि के पक्ष में तुलसी अपने सन्यासी जीवन के व्यक्ति पक्ष में संत परम्परा से भिन्न नहीं है।

(८) तुलसी ने सवर्णों को पुनर्जाग्रत किया और निश्चित कर दिया।

(९) तुलसी अपने सिद्धांतों के विरोधियों के प्रति बड़े असहिष्णु थे।

(१०) तुलसी पर युग के बंधनों से भी अधिक वर्ग के बंधन थे।

(११) तुलसी ने दासवृत्ति से भक्ति को स्वीकृत करके भक्ति के आंदोलन को व्यक्ति पक्षीय बनाकर समाप्त कर दिया। उन्होंने समस्त प्राचीन को जैसे मथ कर धर दिया।

(१२) तुलसी में क्षणिक निराशा है, पर वे प्रभुत्वपूर्ण आधिक्य से आशावादी हैं।

(१३) तुलसी ने वर्ण संघर्ष को मध्यकालीन विषमता को भाग्यवाद में डुबाया और व्यक्ति पक्ष में सामाजिक असंतोष को मिटाने का यत्न किया।

(१४) तुलसी ने खुलेआम वैभव और विदेशी अधिकार को चुनौती दी। अन्यथा राम के पास पत्रिका ले जाने का तात्पर्य ही नहीं था।

(१५) तुलसी ने जो प्रजा से सहानुभूति दिखाई है वह उनके कलात्मक रूप में प्रकट हुई है और वहाँ महान् कलाकार सत्य कहे जाते हैं। वैसे वे वर्णाश्रम निधन को ही संसार के दुख का कारण समझते थे।

(१६) भक्ति आंदोलन का अंत महाकवि तुलसीदास में आकर हो गया था।